नारदपञ्चरात्र-
भारद्वाजसंहिता

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन बम्बई
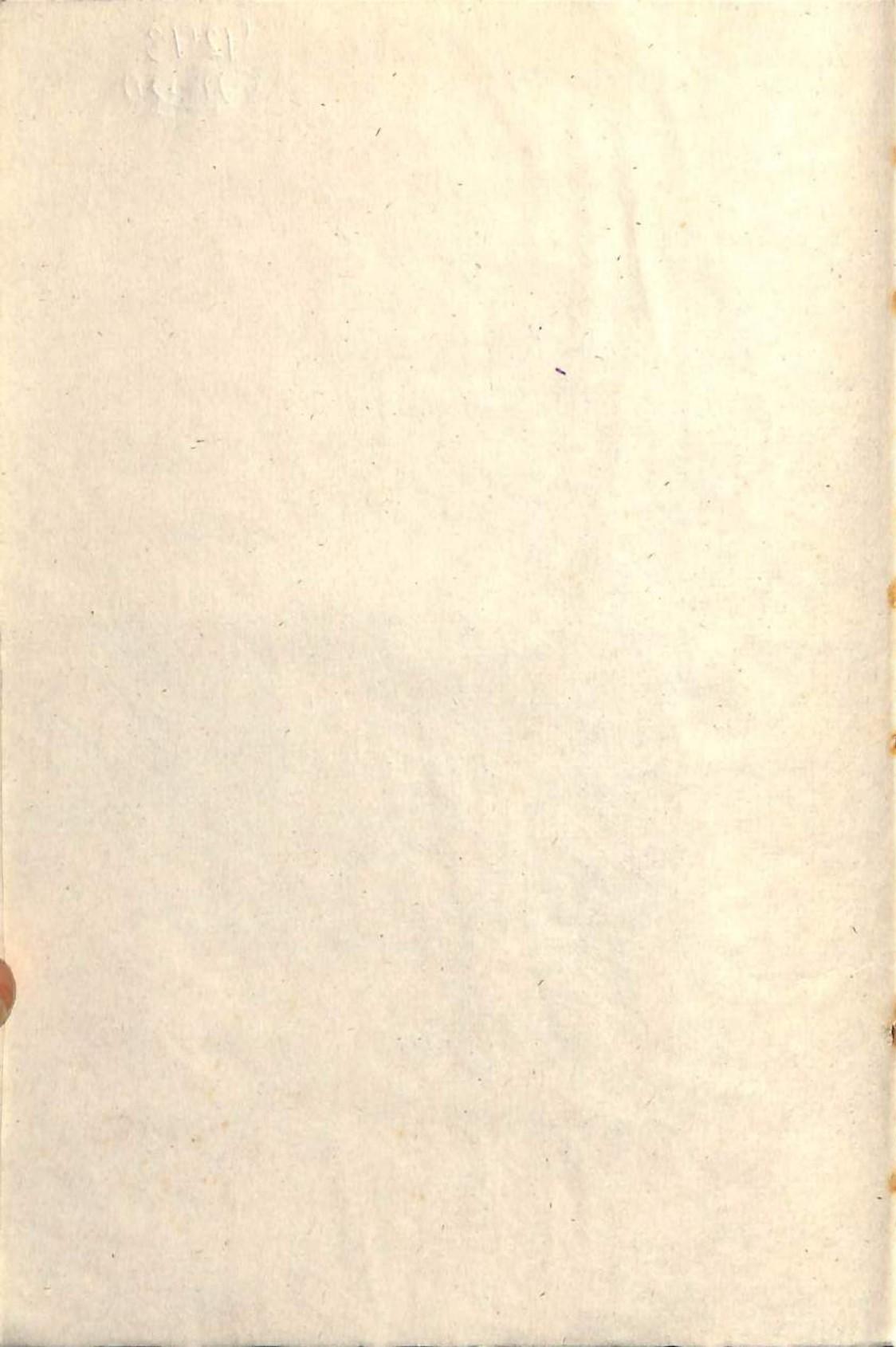
नारदपञ्चरात्र–भारद्वाजसंहिता

तत्वप्रकाशिकया हिन्दी व्याख्यया समन्विता

सेयम्

तत्वप्रकाशिकाख्याभिनव हिन्दी व्याख्या प्रस्तावना–
पद्यानुक्रमणिका परिशिष्टादिभिः संयोज्य

श्रीबाबूलालशुक्ल, शास्त्रिणा
मध्यप्रदेशशासन (साहित्य अकादमी) सम्मानितेन
कालिदास अकादमी अनुसन्धान विभागाचार्येण एम० ए०
साहित्याचार्याद्यनेकविरुदालङ्कृतेन विदुषा
सम्पादिता

सा च
खेमराज श्रीकृष्णदास श्रेष्ठिना
स्वकीये वेङ्कटेश्वर मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशिता

NARADA PANCHARATRA–BHARADWAJA SAMHITA

WITH TATVAPRAKASHIKA HINDI COMMENTARY

Edited with Tatvaprakashika Hindi Commentary

Introduction, Index and Appendies

By

PROFESSOR BABULAL SHUKLA, SHASTRI

M.A, Sahityacharya etc.

Honoured By Madya Pradesh Government (Sahitya Parishad)

Professor of Research, KaliDasa Akedemy, UJJAIN (M.P)

Published By

Khemraj Shrikrishnadass

Prop : Shri Venkateshwar Press,

Khemraj Shrikrishnadass Marg,

(Khetwadi, Khambata Lane)

Bombay-400 004

प्रस्तावना

नारदपञ्चरात्र तथा इसी के अनुगत भारद्वाजसंहिता के महत्व तथा उसकी उपयोगिता वैष्णव-आगम में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। जिसमें सर्वाधिक प्रमुखता के साथ दास्यभक्ति के द्वारा भवबन्धन से मुक्ति एवं गोलोकप्राप्ति के उपाय एवं आचार का परम्परागत प्रतिपादन है। पञ्चरात्रआगम वैष्णव-आगम का एक प्रमुख प्रभेद है। आगम को श्रुतिमूलक तथा प्रमाणभूत मानने की आस्था का कारण इसके प्रतिपाद्य एवं उपास्य साक्षान्नारायण तथा वक्ता भी श्री परमेश्वर का होना है। नारदपञ्चरात्र तथा इसके अनुगत ग्रन्थ संहिताओं के रूप में वैष्णव तन्त्र(या आगम के रूप)में प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित हैं। आगम का एक पर्याय तन्त्र भी है, इसी कारण पाञ्चरात्र को भी तन्त्र शब्द से अभिहित कर इसे वैष्णव-तन्त्र के रूप में माना जाता है। यहां हम तन्त्र तथा इसके वाङ्मय की भी इस प्रसंग में चर्चा कर रहे हैं।

तन्त्र साहित्य

संस्कृत साहित्य के व्यापक क्षेत्र रहने के कारण धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र के साथ साथ इसे आगम या तन्त्र का एक ऐसा क्षेत्र भी प्राप्त है जो भारतीय चिन्तन, योग तथा उपासना का एक साथ निदर्शक है। तन्त्र के अन्तर्गत एक ऐसा विस्तीर्ण क्षेत्र आता है जिसके ग्रन्थों की अपरिमित सम्पत्ति भारत के विभिन्न प्रदेशों में सुरक्षित, प्रचलित तथा परम्परा के कार्यरूप में सम्पन्न होकर अवस्थित है। तान्त्रिक वाङ्मय की खोज करनेवाले मनीषिगण के सर्वेक्षण के आधार पर यह तथ्य उभर कर आता है कि ऐसे ग्रन्थों के वर्गीकरण में दो हजार ग्रन्थों को तो इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें से अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है किन्तु इनमें अनेक ऐसे ग्रन्थ भी हैं जो आज भी अप्रकाशित हैं तथा महत्वपूर्ण भी। ऐसे ग्रन्थों की संख्या प्रकाशित ग्रन्थों की तुलना में बहुत अधिक है। यदि इन ग्रन्थों का सामान्यतः इनके विषयों के आधार पर विभाजन करें तो इन्हें चार मुख्य वर्गों में रखा जा सकता है। ये हैं–(१) ज्ञान (२) योग (३) क्रिया तथा (४) चर्या। इनमें "ज्ञान" के अन्तर्गत इसके निदर्शक तथा इसकी प्राप्ति आदि के विवेचक ग्रन्थ आते हैं। "योग" के अन्तर्गत वे ग्रन्थ हैं जिनमें चित्त के नियमन तथा उसकी एकाग्रता के विषय में विचार तथा उपाय तथा उसके वशीकरण हेतु दिखलाई जानेवाली क्रियाओं आदि का विवरण रहता है। "क्रिया" के अन्तर्गत उपास्य इष्ट देव, उनके निवासभूत मन्दिरों के निर्माण तथा इसमें चलने वाले कार्यों का विधान सहित विवरण होता है। "**चर्या**" एक प्रकार से इनकी प्रासंगिकता के अनुगत धार्मिक आचार तथा सामाजिक पर्यवेक्षा के बिन्दु पर विश्लेषण या विवेचन को लक्ष्य बनाकर रचे गये ग्रन्थ होते हैं। कभी कभी इन वर्गों के एक या दो मुद्दों को लेकर भी ये ग्रन्थ रचित होते हैं परन्तु ग्रन्थकार इनके लिये सर्वथा स्वतंत्र है तथा ग्रन्थ भी जिनको आधार या लक्ष्यबिन्दु बनाकर रचित हुए हों, यह भी स्पष्टतः परिशीलन के आधार पर प्रतीत होता है। परन्तु कुछ गन्थ इस लक्ष्यबिन्दु पर ही केन्द्रित होकर रचना में प्रवृत्त हुए हों, यह भी स्पष्ट नहीं है।

इस प्रकार यदि देखें तो तन्त्र या आगम शास्त्र को ऐसे रचनाग्रन्थों में रखना पड़ता है जिनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का क्रमानुगत ऐसा विवरण हो जिनसे ज्ञानादि की प्राप्ति उपयुक्त साधनादि के द्वारा सम्भव होती है। इस शास्त्र के ग्रन्थ, तन्त्र, आगम या संहिता के रूप में निरूढ माने गये हैं जिनमें आगम का रूप परम्परा से अधिक आबद्ध रहता है। संहिता ग्रन्थों में पारम्परिक मान्य सिद्धांतों का संकलन रखा जाता है। जिसमें प्राचीन एवं पवित्र परम्परा से प्रचलित ग्रन्थों के आधार पर या गुरूपदेशोंके आधार पर विवरण रहता है तथा विवेचन भी। इनके स्वरूप तथा उनमें स्थित विभेदक तत्वों के अनेक पहलू हैं तथा इनमें अनेक तथ्य तथा तत्व की आगमशास्त्रीय ग्रन्थों में मीमांसा मिलती है परन्तु ये ऐसी रचनाओं पर टिके हैं जहां इष्ट या उपास्य की उपासना की चर्चा हो, जो प्रतिपाद्य विषय के रूप में रखे जाएं। स्थूलरूप में ऐसे ग्रन्थ जिनमें आराध्य श्री सदाशिव तथा भगवती उमा (शिव तथा शक्ति) अथवा श्रीमहाविष्णु तथा श्रीमहालक्ष्मी विषयक उपासना तथा चर्या रहती है। ऐसे ग्रन्थों को संहिता के अन्तर्गत रखा गया है। अतएव पूर्वोक्त ऐसे वर्गों के साहित्य या प्रतिपाद्य को आधार बनाकर निर्मित ग्रन्थ "तन्त्रग्रन्थ" या आगमग्रन्थ के नाम से जाने जाते हैं। परन्तु व्यवहार में वैष्णवतत्व को आधार बनाकर रचे गये इस शास्त्र के ग्रन्थ संहिता तथा इनसे भिन्न तत्व को बिन्दु मान कर रचे गये दूसरे सभी ग्रन्थ आगम ग्रन्थ या तन्त्रागमग्रन्थ के रूप में जाने जाते रहे हैं। इनको सरलता से शैवागम, बौद्धागम आदि के रूप में समझने के लिये लिखा है। सभी साधक या भक्तजन अपनी परम्परा के अनुरूप इन तन्त्रग्रन्थों को अपने अर्धानुरूप तथा परम्परा प्राप्त रूपों को मान्यता देकर तथा अपने अपने आग्रहों को निष्ठापूर्वक तथा बड़ी कठोरता से पालन कर अपनी साधना सम्पन्न करते हैं।

तन्त्र

तन्त्रशास्त्र या तन्त्रविद्या के प्रतिपादक के रूप में अवस्थित "तन्त्र" शब्द की व्याख्या तथा उसके परिसर को एवं इसकी व्यापकता को देखते हुए उसे एक स्वतन्त्र दर्शन की गरिमा भी दी गई। इसके क्षेत्रादि की व्यापकता को देखते हुए इस शब्द की "शब्दार्थ-चिन्तामणि" कोष में विवृत्ति इस प्रकार है:—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च मन्त्रलक्षणमेव च।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानाञ्चैव वर्णनम्॥
तथैवाश्रमधर्माश्च मन्त्रसंस्थानमेव च।
संस्थानञ्चैव भूतानां यन्त्राणाञ्चैव निर्णयः॥
उत्पत्तिर्विबुधानाञ्च तरूणां कल्पसंज्ञितम्।
संस्थानं ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च॥
कोशस्य कथनञ्चैव व्रतानां परिभाषणम्।
शौचाशौचस्य चाख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम्॥
हरचक्रस्य चाख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैव लक्षणम्।
राजधर्मो दानधर्मो युगधर्मस्तथैव च॥
व्यवहारः कथ्यते च तथा चाध्यात्मवर्णनम्।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तं "तन्त्र" मित्यभिधीयते॥"

कोशकार के द्वारा इस प्रकार की गयी तन्त्र पद की यह विवृत्ति एक ओर जहां व्यापक है वहीं बड़ी सरल भी है तथा तन्त्रविद्या की सभी प्रकार की रचनाओं पर पूर्ण तथा विशेषरूप में लागू होती है फिर वह चाहे जैसी तन्त्रपद्धति हो। इसका कारण यह विवृत्ति है जो अपने सर्वसंग्राहक भाव के साथ व्यापक क्षेत्र की कल्पना को लेकर ही प्रवर्तित हुई।

परम्परा में 'तन्त्र की उत्पत्ति श्रुति से मानी गई है। व्याकरण निर्वचन के अनुसार "तन्त्यते तन्यते विस्तार्यते वा ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्" अर्थात् जिससे ज्ञान का विस्तार हो वह 'तन्त्र' है। यह ज्ञान का विस्तार सभी के रक्षण या भयमुक्ति के लिये भी होने से लोककल्याण का आधायक है। तन्त्र के प्रयोजन के साथ उपर्युक्त निरुक्ति का निदर्शन "विष्णुसंहिता" की निम्नलिखित कारिका से स्पष्ट हो जाता है।

"सर्वेषां येन तन्त्यते त्रायन्ते च भयाज्जनाः ।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते ॥"

तथा शैव-मत के अनुसार–

"तनोति विपुलान् अर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥"

तत्व मन्त्र के अर्थज्ञान का प्रचुर विस्तार तथा रक्षण (करने) के कारण **"तन्त्र"** माना गया था। तन्त्रशास्त्र की धारणा सामान्यतः शक्ति तथा भैरव की उपासना के पारम्परिक अर्चादि को लेकर जनसाधारण में प्रचलित है। किन्तु इसकी व्यापकता इसके द्वारा होनेवाले कल्याण विधान, भयमुक्ति एवं रक्षण को लेकर होनेवाली उपायभूत अर्चा के कारण है जो पुराणों में भी दूसरी तरह कही गयी है।

'श्रीमद्भागवत' में श्री विष्णु की अर्चा को वेद, तन्त्र तथा मिश्ररूप में दिखलाया गया है–

"यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ।
तथा–नाना तन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ।"

(भा० ११/५-२८ तथा ३१)

इसी प्रकार महाभारत में शिवजी को पञ्चरात्र (तन्त्र) का विज्ञाता तथा बालखिल्य आदि ऋषियों को तन्त्रशास्त्र की दीक्षा तथा उपदेश कृतयुग में शिव के द्वारा प्रदान करने का उल्लेख मिलता है। **ब्रह्मपुराण**–श्री शिव की पूजा वैदिक तथा तान्त्रिक विधि से करने की विधि का संकेत करता है। **कालिकापुराण**–देवी का ध्यान तथा अर्चा **दुर्गातन्त्र** के अनुसार करने के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र का बार-बार अनुवर्तन करता है तथा **मार्कण्डेयपुराण** में शक्ति उपासना का तान्त्रिक विधान विस्तार से निर्देशित किया गया है जो सर्वविदित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तन्त्रविद्या का महत्व तथा उसका प्रचलन सुदूर प्राचीन काल से ही यहाँ चला आ रहा है।

आगम

तन्त्र शब्द के अतिरिक्त 'आगम' शब्द भी इस शास्त्र का पर्याय माना जाता है। आगम भी श्रुति के समान महत्वशाली अनुष्ठान प्रकार की गरिमा रखता है। ऐसी मान्यता है कि जो महादेव (या सदाशिव) के द्वारा माता पार्वती के लोककल्याण की जिज्ञासा में करुणा से प्रेरित आग्रह से पूछे गये प्रश्नों के आधार पर कहे गये धर्मादि के गुप्त या रहस्यमय विवरणादि हैं वे "आगम" कहलाते हैं। **पद्मसंहिता** में आगम की जो परिभाषा दी गई है वह भी इसी बात को दर्शाती है। यथा–

"आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने ।
मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥
सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम् ।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्मसाधनञ्चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तं तस्मादागममुच्यते ॥"

आगम के लक्षणभूत अंगों से सात लक्षण उपर्युक्त विवरण से निदर्शित है। ये हैं–(१) सृष्टि

(२) प्रलय (३) देवार्चा (४) साधन (५) पुरश्चरण (६) षट्कर्म साधना तथा (७) ध्यानयोग

इष्ट देवों की उपासना के आधार आदि अनेक स्वेष्ट देवताराधन एवं विषयादि को अपना आधार बनाकर आगमों का सम्बन्ध धर्म तथा दार्शनिक चिन्तन आदि से सम्बद्ध होता है जिनकी संख्या अट्ठाईस मानी गयी थी। इस संख्या में (जो शैवागम में दिखलाई गयी थी) आनेवाले आगमों की नामावली इस प्रकार है–कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमद्‌भेद, सुप्रभेद, विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, अनिल, वीर, रौरव, मुकुटक, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब, प्रोद्‌गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोक्त, परमेश्वर, किरण तथा वातूल आगम। इन आगमों के ग्रन्थों में अपने अपने विषय से सम्बद्ध तन्त्र के अनुगत धार्मिक विधानों तथा विधियों का विवरण रहता है (आगमों को भी तन्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत समाविष्ट माना जाता है)।

संहिताएं–

तन्त्रशास्त्र के आगमवर्ग में संहिताओं का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है क्योंकि इन संहिताओं का क्षेत्र विस्तीर्ण होता है तथा इनके मूल ग्रन्थ में बारह हजार श्लोक (तक का ?) आयाम रहता है। इन संहिताओं में वैष्णव-तन्त्र या आगम के वर्ग में आनेवाली संहिताओं की संख्या अधिक है। इसके विषय में 'पौष्करसंहिता' का यह वचन द्रष्टव्य है:–

"द्विषट्‌सहस्रपर्यन्तं संहिताख्यं सदागमम् ।
ये चान्ये चान्तराला वै शास्त्रार्थेनाधिका शतैः ।
सर्वेषां संहिता संज्ञा बोद्धव्या कमलोद्‌भव ॥"

आगम साहित्य के इस वर्ग में संहिताएं कितनी थीं तथा उनमें से कितनी संहिताएं उपलब्ध हैं, इसका निश्चित विवरण नहीं दिया जा सकता है। फिर भी अभी तक इस विषय पर जो तथ्य मिल चुके हैं उनके आधार पर प्राप्त संहिताओं के नामादि इस प्रकार हैं–

अहिर्बुध्न्य, ईश्वर, कपिञ्जल, जया, पाराशर्य, पाद्म, बृहद्‌ब्राह्म, भारद्वाज, सात्वत, श्रीपाश्न, विष्णु, विष्णुतिलक, लक्ष्मी, मारीच, अत्रि, परम तथा पौष्कर संहिता। पाश्चात्य विद्वान् 'श्रोडर' ने इस वर्ग में अगस्त्य, अनिरुद्ध, उपेन्द्र, काश्यप संहिताओं के विद्यमान रहने की सूचना देकर उनकी भी इसी वर्ग में योजना रखने की बात कही है।

रहस्य-ग्रन्थ

तन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत इन आगम तथा संहिता ग्रन्थों के अतिरिक्त इनसे अधिक सम्बद्ध विषयों के विवेचक ग्रन्थों में रहस्य ग्रन्थों का भी महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इनमें शिवरहस्य, ब्रह्मरहस्य तथा विष्णुरहस्य जैसे ग्रन्थ आते हैं। इन रहस्य ग्रन्थों का वर्गीकृत विभाजन यामलों तथा डामर-तन्त्र जैसे ग्रन्थों में मिलता है। 'यामल' की परिभाषा इस प्रकार (मिलती) है–

"सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम् ।
क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च ।
युगधर्मस्तथाख्यातं यामलस्याष्ट-लक्षणम् ॥ इति ।

इस यामल वर्ग में परिगणित कुछ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं–आदि, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, गणेश, आदित्य जयद्रथ तथा शक्ति यामल जो संख्या में आठ हैं। इन रहस्य ग्रन्थों में इन यामलों के साथ डामर ग्रन्थों का भी तन्त्रपरम्परा में समावेश माना गया है। इनमें योग, शिव, दुर्गा, सरस्वती, ब्रह्मा, तथा गान्धर्व डामर ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें तन्त्रग्रन्थों में डामर मानते हैं।

ये तन्त्र दो प्रमुख धाराओं में विभक्त हैं जिन्हें वैदिक तथा अवैदिक कहते हैं। इनमें वैदिक मन्त्रादि से अनुगत धारा मुख्यरूप से दक्षिणमार्गी धारा कहलाती है तथा अवैदिक को वाममार्गी

या अवैदिक धारा या शाख भी कह सकते हैं जिसका विस्तार से विवरण यहां अनभिप्रेत तथा प्रासंगिक नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से तन्त्रसाहित्य के व्यापक क्षेत्र का परिज्ञान होता है जिसमें अपरिमित या विशाल ग्रन्थसम्पत्ति विद्यमान है। जिनके अनेक ग्रन्थों के परिशीलन से इसी वर्ग के अनेक लुप्त या अप्राप्य ग्रन्थों का पता लग रहा है तथा जिनके उद्धरण इन (प्राप्य) ग्रन्थों में मिलते हैं। तन्त्रशास्त्र के परिशीलन से अनेक अज्ञात तत्वों का परिज्ञान होने से यह शास्त्र महत्वपूर्ण स्थिति से सदैव मण्डित रहेगा यह भी स्पष्ट ही है तथा इस पर अनुसन्धान भी नितान्त आवश्यक है।

वैष्णव-आगम तथा संहिताएं

वैष्णवआगम अपने में सर्वथा पूर्ण आगम माना गया है। इसके सामान्यतः दो भेद प्रमुख हैं–वैखानस तथा पाञ्चरात्र। इनमें से वैखानस नाम **श्रीमद्भागवत्** में गोपीगीत में मिलता है, जो इस धारा की प्राचीन स्थिति दर्शाता है। यथा–

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

विखानस् शब्द का अर्थ ब्रह्मा है तथा इस नाम के एक मुनि भी विखानस् कहलाते थे। विखानस से प्रवर्तित सम्प्रदाय वैखानस हुआ। छान्दोग्योपनिषद् में वैखानस् का अर्थ वानप्रस्थ किया गया है। **वैखानस गुह्यसूत्र** में कहा गया है कि वैखानसों को भगवान् नारायण स्वयं गर्भ में ही मुद्रा धारण करवा देते हैं। यथा–

नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम् ।
विप्रा वैखानसा ये ते स्मृताः श्रीभगवत्-प्रियाः ॥"

अतः इन वैखानसों के सम्प्रदाय को वैखानस आगम कहा गया।

पाञ्चरात्र-आगम वैष्णव-आगम में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें चर्चित विवरणों में पञ्चरात्र की व्याख्याएं भिन्न भिन्न रूप में मिलती हैं। इस शाखा के ग्रन्थ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिनकी आगे चर्चा की जा रही है। पञ्चरात्र शब्द की व्याख्या में **पाद्मसंहिता** के अनुसार पांच विरोधी दर्शन अर्थात् बौद्ध, जैन, सांख्य, न्याय तथा वेदान्तशास्त्रों को जो अन्धकारमय या रात्रितुल्य अपने प्रकाश से कर देता है वह "पञ्चरात्र" शास्त्र या मत है। **'अहिर्बुध्न्यसंहिता'** तथा **'नारदपञ्चरात्र'** के अनुसार रात्रपद ज्ञान का वाचक है। ये पंचविध ज्ञान हैं–(१) परमतत्व, (२) मुक्ति, (३) भुक्ति, (४) योग, तथा (५) विषय (संसार) जिनके ज्ञान का आपादक यह शास्त्र है। **'ईश्वरसंहिता'**–के अनुसार पांच मुनियों को सर्वप्रथम इस शास्त्र का ज्ञान प्राप्त होने के कारण यह पाञ्चरात्र शास्त्र कहलाया। ये पांच मुनि हैं–शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज तथा यह भी है कि परमेश्वर ने पांच दिवारात्र की कालावधि में इस विद्या का उपदेश दिया था इसलिये इसका नाम पंचरात्र हुआ। इस प्रकार विविध वैष्णव आगमों में इसकी भिन्न भिन्न विवृतियाँ मिलती है। **शतपथब्राह्मण** में पाञ्चरात्र पद का अर्थ पांचसत्र किया गया है। आचार्य **वेदान्तदेशिका** ने **"न्यायपरिशुद्धि"** में विभिन्न आगमादि के आधार पर सारभूतरूप में पाञ्चरात्र पद का यह स्वरूप दिखलाया है:–

"प्रतिबुद्धविषयभगवदनन्यभजनोपदेशप्रवृत्तं तु ।
शास्त्रं पाञ्चरात्रम् । (श० अ० २ आ०)

तदनुसार श्री विष्णु की अनन्यभाव से भक्ति का उपदेशक शास्त्र पाञ्चरात्र माना गया है।इस

प्रकार अनेक तरह से पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ वर्णित रहने पर भी इस शब्द के शास्त्रादि ग्रन्थों में मिलने वाले प्रयोगों से भी इस पर अतिरिक्त प्रकाश पड़ता है जहां (पुरुष) नारायण को पांच अहोरात्र में सम्पन्न होने वाले यज्ञ का सम्पादक कहा गया है। आचार्य उत्पल ने पाञ्चरात्र श्रुति, पाञ्चरात्रोपनिषद् तथा पाञ्चरात्र संहिता इन तीन नामों से पाञ्चरात्र साहित्य का निर्देश किया है। इस प्रकार श्रुति तथा उपनिषद् के अतिरिक्त इस शास्त्र के ग्रन्थों के साथ संहिता शब्द का प्रयोग एक परम्परा के रूप में सर्वज्ञात रहने से इसकी निरन्तर धारारूप में गति बनी रही यह माना जाता है।

(१) प्रथमं सात्विकं ज्ञानं द्वितीयन्तु तदेव तु। नैर्घृण्यन्तु तृतीयञ्च ज्ञानञ्च सर्वतः परम्। चतुर्थञ्च राजसिकं भक्तस्तन्नाभिवाञ्छति। पञ्चमं तामसं ज्ञानं विद्वास्तन्नाभिवाञ्छति। इति पञ्चविधं ज्ञानं पञ्चरात्रं विदुर्बुधा।(२) ब्रह्मवैवर्तेऽपि-वासिष्ठं नारदीयञ्च कापिलं गौतमीयकम्। परं सनत्कुमारीयं पाञ्चरात्रन्तु पञ्चकम्॥" इति।

पाञ्चरात्र शब्द के अर्थ निर्वचन के क्रम में पाञ्चरात्रागमगत विभिन्न संहितादि का मत देखते हुए जब हम भारतीय दर्शनशास्त्र के सांख्य, योग तथा वेदान्तादि (अद्वैतवेदान्तादि) दार्शनिक परम्परा को देखे तो ये सभी निश्चितरूप से पुरुषार्थ साधक होकर अमूर्ताराधनपरक शास्त्र भी हैं जिनमें प्रवृत्ति यदि असंभव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही है। इनकी तुलना में पाञ्चरात्र समूर्ताराधक होकर सर्वसामान्यजन के लिये भी पुरुषार्थ साधक बन पड़ने से लाघव आपादक शास्त्र है तथा सरल भी रहने से इसमें लोक प्रवृत्ति का लगाव या झुकना भी संभव हुआ था यही समझना चाहिये। यही इस शास्त्र की दर्शनादि अन्य शास्त्रों में भिन्नता भी है।

अतएव पाञ्चरात्र शब्द में अवस्थित रात्र–पद को सामान्य काल वाचक मान लेना इस आगम के अनुकूल है, अर्थात् पाञ्चरात्र–पद पञ्चकाल शब्द का समानार्थक है यही प्रतीत होता है। पाञ्चरात्र संहिता आदि अनेक ग्रन्थों में पञ्चकालपरायण शब्द का प्रयोग पाञ्चरात्र–विशेषज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त किया गया मिलता है। अतः पाञ्चरात्र शब्द से ऐसा संप्रदाय एवं उसका आचार अभिहित है जिसमें वैष्णवों के आचार निर्वाह हेतु चौबीस घन्टे या एक अहोरात्र को पांच भागों में विभक्त किया गया हो तथा प्रत्येक काल के कर्तव्यों का निरूपण रहे। इस पञ्चकाल के अन्तर्गत प्रातःकाल से आरम्भ होकर रात्रि के उत्तर भाग पर्यन्त रहने वाले आचार जैसे–(१) अभिगमन, (२) उपादान, (३) इज्या, (४) स्वाध्याय तथा (५) योगकाल का कर्म इष्ट है जिसका निर्देश पाञ्चरात्र ग्रन्थों में दिया गया है। यही अर्थ यहां व्यावहारिक भी है तथा युक्तियुक्त भी है कि पांच कालों के लिये निर्धारित पृथक् एवं विशिष्ट आचार–परक विधेय क्रियाओं का इन विभक्त हुए पांच कालों में ही सम्पादन हो। यही विधि यहां इष्ट भी है।

पाञ्चरात्र मत की प्राचीनता–

पाञ्चरात्र–आगम की मूल परम्परा अतिशय प्राचीन है जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से है तथा जो आगे चलकर सभी वैष्णव सम्प्रदायों का आधार बनी। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि परमपुरुष नारायण ने जब एक होने की इच्छा की तो उन्हें पञ्चरात्र यज्ञ का साक्षात्कार हुआ। श्री वेंकटसुधी ने अपने विशाल ग्रन्थ **'सिद्धान्तरत्नावली'** में दिखलाया कि नारायण पद ब्रह्म का वाचक है। महाभारत के शान्तिपर्व में एक उल्लेख है कि–नारायण तथा नर उस एक अपरिणामी ब्रह्म की उपासना करते हैं। अन्य एक अध्याय में एक ऐसी कथा है कि नारायण का अनन्य भक्त एक राजा सात्वत धर्मविधि के अनुसार उनकी उपासना करता था। वह अपने यहां पञ्चरात्र वेत्ता सन्तों का सम्मान कर उन्हें आश्रय देता था। पर ये सन्त अपनी उपासना साधना के बाद भी नारायण के दर्शन नहीं पा सके। उन्हें बाद में सन्देश मिला कि नारायण का श्वेतद्वीप वासियों को ही दर्शन संभव है क्योंकि वे इन्द्रियहीन हैं। नारद भी श्वेतद्वीप वासियों को दूर से ही देख पाए थे

पर जब वे वहां स्वयं पहुंचे तो उन्हें नारायण के दर्शन हुए। नारायण ने उन्हें उपदेश दिया कि वासुदेव परम एवं अपरिणामी हैं जिनसे संकर्षण की उत्पत्ति हुई जो समस्त जीवों (प्राणियों) के अधिपति हैं, उनसे प्रद्युम्न हुए जो मनस् भूत है, इनसे अनिरुद्ध उत्पन्न हुए जो अहंकार रूप हैं। अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई और जिसने इस समग्र सृष्टि की उत्पत्ति की। अतः महाप्रलय के पश्चात् प्रथम वासुदेव से ही कर्मपूरक संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध की उत्पत्ति होकर सृष्टि प्रक्रिया प्रवृत्त होती है।

पाञ्चरात्र आगम होने से इसकी पुष्टि सभी वैष्णवाचार्यों ने की सात्वत्संहिता, आदि के आधार पर इस शास्त्र के वक्ता स्वयं श्रीनारायण हैं यह भी उपर्युक्त विवरण से प्रकट है। जैसा कि कहा भी गया है:—

"पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् ।"

अर्थात् समग्र पञ्चरात्र आगम के वक्ता या प्रथमोपदेष्टा स्वयं श्री नारायण हैं। इस पंचरात्र—आगम के अनुगत अनेक उपनिषद् हैं। यथा—अव्यक्तोपनिषद् या अव्यक्तनृसिंहोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, गोपालतापनी उपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, नृसिंहतापनी उपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापनी उपनिषद्, रामतापिनी उपनिषद्, रामरहस्योपनिषद् तथा वासुदेवोपनिषद् आदि। ये सभी उपनिषद् वैष्णव मन्त्रों तथा क्रिया एवं कर्म विधानों से युक्त विवरण परक हैं। इनमें से कुछ उपनिषद् विभिन्न वैष्णवाचार्यों द्वारा अपने यहां आगृहीत भी हैं तथा इनमें नृसिंहतापनी तथा गोपालतापनी अति प्रसिद्ध भी हैं।

यामुनाचार्य ने अपने 'आगमप्रामाण्य' (नामक) ग्रन्थ में पांचरात्र पद की आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण विशिष्टता की विवेचना की है। वे कहते हैं कि पञ्चरात्र से सम्बद्ध प्रक्रियाएं प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ज्ञेय नहीं है। केवल ईश्वर ही पञ्चरात्र का आप्तभूत विशिष्ठ उपदेश दे सकते हैं क्योंकि उनका ज्ञान अपरिमित होकर जगत् की समस्त वस्तुओं तक पहुंचता है। पञ्चरात्र ग्रन्थ ईश्वर द्वारा ऐसे भक्तों के हितार्थ उपदिष्ट हुए हैं जो वेदोक्त बहुश्रमसाध्य अनुष्ठानादि क्रियाओं से त्रस्त हो चुके थे। अतएव वेद में पाञ्चरात्र समर्थक पाठ न पाये जाने का कारण समझा जा सकता है। क्योंकि शाण्डिल्य ने वेदों में अपने अभीष्ट हेतु को प्राप्त करने का जब साधन नहीं देखा तो वे भक्ति की ओर झुके जिसका तात्पर्य वेद—निन्दा नहीं है। इससे यह भी समझा जा सकता है कि पाञ्चरात्र आगम के आधार तथा साधन वेद से भिन्नता रखते हैं। इसमें वेदोक्त कर्मकाण्ड के अतिरिक्त अपनी कर्मविधि होने से इसकी अवैदिकता भी सिद्ध नहीं हो सकती है। इसी तरह पञ्चरात्र में चार व्यूहों को स्वीकार करने पर इसकी अनेकेश्वरवादिता मानना भी अनुचित है क्योंकि दैवी पुरुष एक वासुदेव के ही ये अभिहित चारव्यूह अभिव्यक्ति है। इस प्रकार यही तथ्य सामने आता है कि वेद की तरह ही पञ्चरात्र मत की भी समानरूप में प्रामाणिकता है जिसका मूल उद्गम स्थान एक ही दैवी पुरुष नारायण हैं।

पाञ्चरात्र—साहित्य

पाञ्चरात्र मत के प्रतिपादक अनेक ग्रन्थ हैं क्योंकि दसवीं शती से लेकर १७ वीं शती तक इस मत का सुदूर दक्षिण में अधिक प्रसार रहा। यहां वैष्णवों को शैवमत के साथ रहना भी पड़ा तथा इसकी सिद्धान्त विषयक विचार मीमांसा भी खण्डन—मण्डन में प्रवृत्त हुई जो समय को देखते हुए स्वाभाविक थी। ऐसे गन्थों के विवरण क्रम में सर्वप्रथम **"सिद्धान्तरत्नावली"** ग्रन्थ को लेते हैं जिसके रचयिता वेङ्कटसुधी हैं। यह ग्रन्थ चार अध्याय का है जिसका तीन लाख अक्षर का आयाम है। यह ग्रन्थ बड़ा होने से अभी तक अप्रकाशित है। परन्तु महत्वपूर्ण भी हैं। वेंकटसुधी का स्थितिकाल १४ तथा १५ वीं शती है। ये प्रसिद्ध विद्वान् वेङ्कटनाथ के शिष्य तथा श्रीशैल ताताचार्य के पुत्र थे। इन्होंने सिद्धान्तरत्नावली के अतिरिक्त रहस्यत्रयसार तथा सिद्धान्तवैजयन्ती नामक अन्य दो ग्रन्थों की भी रचना की थी।

इसी क्रम में गोपालसूरिकृत "पञ्चरात्र-रक्षासंग्रह" नामक ग्रन्थ आता है। गोपालसूरि कृष्णदैशिक के पुत्र तथा वेदान्तरामानुज के शिष्य थे। वह ग्रन्थ पञ्चरात्र के विविध क्रियाकलापों का विवरण देता है। प्रमाणसंग्रह भी ऐसा ही एक ग्रन्थ है जिसमें महाभारत,पुराण तथा स्मृत्यादि को आधार बनाकर पाञ्चरात्र मत की प्रामाणिकता दिखलाई गई है।

पाञ्चरात्र-साहित्य विशाल है जिसके कुछ ही ग्रन्थ मुद्रित तथा प्रकाशित हैं। इन ग्रन्थों का दार्शनिक दृष्टि से कम महत्व है तथा सांप्रदायिक दृष्टि से अधिक है। फिर भी इस क्रम में जो महत्वपूर्ण ग्रन्थ है उनमें एक "**सात्वतसंहिता** है। इस ग्रन्थ के २४ अध्याय हैं। इसमें कहा गया है कि स्वयं नारायण ने ऋषि आदि के हितार्थ पञ्चरात्र शास्त्र का प्रवर्तन किया। 'सात्वत-संहिता" ऋषि द्वारा रचित मानी जाती है। "**ईश्वरसंहिता**" भी इस शास्त्र की महत्वपूर्ण रचना है। जिसमें २४ अध्याय हैं जिन्में मूर्ति, ध्यान, मन्त्र, शुद्धि तथा आत्मनिग्रह आदि विषय हैं तथा जिसमें दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रतिपादित हैं। बाद में यह ग्रन्थ श्रीवैष्णव जन के दर्शन और धर्म का प्रमाणसिद्ध तथा आधारभूत ग्रन्थ माना गया।

"**हयशीर्षसंहिता**" भी इसी क्रम में आता है। जिसमें देवमूर्ति प्रतिष्ठा तथा इनके निर्माण कार्य तथा अन्य प्रकारादि का विवरण है। यह ग्रन्थ विस्तीर्ण है तथा चार विभागों में विभक्त है।

वैष्णवतंत्रीग्रन्थों में "**जयाख्यसंहिता**" चर्चा के योग्य है जिसका आगे (विषयादि) दिखलाने का प्रक्रम रखा गया है। इस तन्त्र के कुछ अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनमें पद्मसंहिता, पौष्करसंहिता, सनत्कुमारसंहिता (जो एक्र बृहद् ग्रन्थ है), अनिरुद्धसंहिता महोपनिषद्, कश्यपसंहिता, विहगेन्द्रसंहिता, सुदर्शनसंहिता, अगस्त्यसंहिता आदि आते हैं। ये सभी ग्रन्थ न्यूनाधिकरूप में आनुष्ठानिक अर्चा आदि के विवरण से युक्त हैं तथा प्रायः अप्रकाशित भी। **विष्णुसंहिता**–भक्ति का प्रतिपादक ऐसा ग्रन्थ है जिसे भागवतयोग कहा गया है। "**मार्कण्डेयसंहिता**"ग्रन्थ को प्राचीन माना जाता है जिसमें वैष्णवतन्त्र की १०८ संहिताओं का उल्लेख तथा उसमें से ९१ संहिताओं की सूची दी गयी है। "**जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, विष्णुसंहिता, विहगेन्द्रसंहिता, परमसंहिता तथा पौष्करसंहिता** नामक ग्रन्थ पाञ्चरात्र आगम के ऐसे ही ग्रन्थ है जिनमें साम्प्रदायिक अर्चा तथा कर्मकाण्डादि विषयों के साथ साथ तात्विक दार्शनिक चिन्तन भी मिलता है। यहां हम क्रमशः इस बिन्दु पर भी थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। इनमें भी जयाख्य तथा अहिर्बुध्न्यसंहिताएं अधिक महत्वपूर्ण मानी गयी हैं।

जयाख्यसंहिता में वैदिक यज्ञादि से विरत होकर मुक्ति की प्राप्ति हेतु चिन्तना के क्रम में कहा गया कि ऋषिगण शाण्डिल्य मुनि के समीप गये तथा उनसे परमतत्व प्राप्ति की जिज्ञासा की। उत्तर में शाण्डिल्य ने नारद को नारायण द्वारा किये गये उपदेश की गाथा सुनाकर इसी क्रम में साधक के अन्तःकरण में उत्कट भक्ति की स्थिति की आवश्यकता प्रतिपादित की। यह कार्य उसे प्रथमसाधन के रूप में गुरु प्राप्ति से आरम्भ करना पड़ेगा जो शास्त्राध्यापन के द्वारा इसका ज्ञान करवाता है। बाद में सृष्टिप्रक्रिया का विवरण देकर श्रीविष्णु के अनेक आख्यान शिष्य को कहता है। गुरु बतलाता है कि जीव विशुद्ध चैतन्य के सत्य अनादिवासना के योग का परिणाम है। इस वासना को दूर करने के लिये ब्रह्म में से एक विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है कि जीव के अन्तर्गत शुद्धचैतन्य अपने कर्मों के क्षीण हो जाने पर वासना रहित हो जाता है और अन्त में ब्रह्म से एकरसता प्राप्त कर लेता है। चैतन्य का जड़ से सम्बन्ध ईश्वर की विशिष्ट शक्ति द्वारा होता है जो आत्मा का माया के संयोग से अनेक भोगों का अनुभव करवाता है तथा बन्धन के टूटते ही शुद्धचैतन्यरूप आत्मा का ब्रह्म से एक भाव हो जाता है।

जयाख्य–संहिता में दो प्रकार के ज्ञान का उल्लेख हैं जिन्हें स्थिति या सत्तारूप तथा क्रिया या क्रियारूप ज्ञान कहते हैं। क्रियारूप ज्ञान के अन्तर्गत यम नियम आदि अनुशासन आते हैं तथा इन

क्रियारूप ज्ञान के निरन्तर अभ्यास से सत्ताख्य ज्ञान पूर्ण तथा परिपक्व होता है। इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा अन्त में साधक या योगी ब्रह्मरंध्र के द्वार से निकल जाता है और अपने देह का परित्याग कर अन्त में मूल सत्यभूत वासुदेव के साथ एकरस हो जाता है।

"विष्णुसंहिता" में ईश्वर की पांच शक्तियों का उल्लेख है जिनके द्वारा ईश्वर अपने को प्रकट करता है। इस प्रकार प्रकृति की शक्तियां ईश्वर में निहित हैं तथा क्षेत्र या प्रकृति क्षेत्रज्ञ या पुरुषभूत ईश्वर से अभिन्न हैं। इनमें प्रथमशक्ति चित्शक्ति है जो समस्त क्रियाओं की अपरिणामी आधार है। द्वितीय भोगशक्ति है जो पुरुषरूप में है। तीसरी कारणशक्ति है जो विश्व के विविधरूपों से प्रकट होती है। चौथी शक्ति इन्द्रियों के विषय ग्रहण करवा कर ज्ञानरूपता देती है तथा पांचवी शक्ति ज्ञान क्रियात्मक होती है जिसे सर्वा कहा जाता है। अतः पुरुष तथा भोग्य प्रकृति ये दोनों स्वतन्त्र तत्व न होकर ईश्वर की ही शक्ति मात्र हैं।

परमेश्वर से समरस होने के लिये प्राणायामके क्रम से आगे अनेक ध्यानादि करने भी आवश्यक हैं। भक्ति का अर्थ यहां ईश्वराभिमुखीकरण है जिसको आगे बढ़ाने का साधन योग साधना है। यहां भक्त को योगी माना गया है तथा योग द्वारा प्राप्त ज्ञान ही सर्वोच्च है क्योंकि योग के ज्ञान के बिना अनुष्ठित कर्म इष्टफल नहीं दे पाते हैं। योग का अर्थ ही चित्त का विषय पर बिना क्षोभ से समाहित होना (कहा गया) है। अतः जब चित्त कर्म करने में दृढ़ता से स्थिर हो जाए तो यही कर्मयोग और जब यही ज्ञान पर अस्खलित रूप से सक्त या स्थिर हो तो ज्ञानयोग हो जाता है। योगी या भक्त इन दोनों योगों को साधते हुए जब श्रीविष्णु की शरण लेता है तो उसे एकात्मता की प्राप्ति होती है। यहां उसकी वृत्तिभूत इस चिन्तनासे चित्त में निर्मल भक्ति का जन्म होता है जिससे आसक्ति की जड़ों का नाश होकर अन्त में समस्त इच्छाओं से तथा राग से छुटकारा पाकर वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहां कर्मयोग तथा ज्ञानयोग में से किसे चुना जाए इस बिन्दु पर यही दिखलाया है कि इस विषय में कोई नियम नहीं है। कोई स्वभाव से कर्मयोग के लिये तथा कोई ज्ञान-योग के उपयुक्त होता है। परन्तु विशेष योग्यता वाले कर्म तथा ज्ञान दोनों का संयोजन करने में समर्थ हो जाते हैं।

"अहिर्बुध्न्यसंहिता"

पाञ्चरात्र ग्रन्थों में 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' का अपना विशेष तथा प्रामाणिक स्थान माना गया है। इसमें अहिर्बुध्न्य के द्वारा सङ्कर्षण से सुदर्शन नामक सत्यज्ञान की प्राप्ति का विवरण है जो विश्व की समस्त वस्तुओं का आधार है। जब ब्रह्म जो ज्ञानरूप तथा सर्वगुणसम्पन्न है अपने को नानारूप में प्रकट करता है तो वह "सुदर्शन" कहलाता है। ईश्वर में शक्ति अभिन्न रूप से स्थित है तथा जगत् उसकी अभिव्यक्ति है, जिसे आनन्द कहा गया है। क्योंकि वह निरपेक्ष है और जगत् रूप से अभिव्यक्त होने पर लक्ष्मी कहलाती हैं। यह जगत्‌रूप से अपने को संकुचित करती है अतः कुण्डलिनी है तथा विष्णुशक्ति भी कहलाती है। शक्ति ब्रह्म से अभिन्न दिखती है और ईश्वर इसी की सहायता से जगत् की रचना करता है। प्रगति के क्रम से यह शक्ति सृष्टि का विकास करती है तथा जब यही विपरिवर्तित होती है तो प्रलय होता है।

इस शक्ति की दो भिन्न युगल क्रियाओं से नाना प्रकार की शुद्ध रचनाएं होती हैं। ज्ञान और बल क्रियाओं से संकर्षण का आध्यात्मिकरूप उत्पन्न होता है। ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का तथा शक्ति और तेज से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। ये तीनों दैवी–व्यूह कहे जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक व्यूह में दो दो गुण प्रधान है फिर भी वह ईश्वर के षड्गुणों से युक्त है क्योंकि ये श्रीविष्णु के ही रूप हैं। व्यूह तीन प्रकार के कार्य करते हैं–(१) उत्पत्ति स्थिति और लय, (२) सांसारिक वस्तुओं का पोषण तथा (३) मुमुक्षु भक्तों की सहायता। ये तीनों रूप वासुदेव से अभिन्न हैं और श्रीविष्णु के शुद्ध या पूर्ण अवतार माने जाते हैं।

इसके अतिरिक्त वासुदेव के दो रूप और भी हैं जिन्हें आवेशावतार तथा साक्षात् अवतार कहा गया है। आवेशावतार दो प्रकार के हैं—स्वरूपावेश तथा शक्त्यावेश। साक्षात् अवतार की उत्पत्ति दीपक के दूसरे दीपक के जलने की तरह सीधे और अविलम्ब होती है। ये सांसारिक अवतार से भिन्न हैं तथा मुमुक्षु जन के उपास्य भी हैं। परशुराम, आत्रेय, कपिल, व्यास, अर्जुन, पावक आदि सभी आवेशावतार हैं तथा मुख्यरूप से आराध्य नहीं माने जाते हैं।

इसी प्रकार आगे प्रत्येक व्यूह से तीन उपव्यूह प्रकट होते हैं। इनमें **वासुदेव** से केशव, नारायण और माधव, **संकर्षण** से गोविन्द, विष्णु तथा मधुसूदन, **प्रद्युम्न** से त्रिविक्रम, वामन तथा श्रीधर और **अनिरुद्ध** से हृषीकेश, पद्मनाभ तथा दामोदर प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त विभवावतार भी होते हैं जिनकी संख्या आगम में ३९ मानी गयी है तथा समस्त विभवातारों की उत्पत्ति अनिरुद्ध से होती है। एक अन्य प्रकार और भी है जो अर्चावतार कहलाते हैं तथा इन सभी का विस्तार से आगम में विवरण भी दिया गया है।

परमेश्वर वासुदेव अपनी शक्ति श्री से युक्त रहते हैं। आगम में इनकी तीन सहधर्मिणी देवियाँ लक्ष्मी, भूमि तथा नीला का उल्लेख मिलता है। ये तीन इच्छा, क्रिया तथा साक्षात् शक्तिरूप हैं। लक्ष्मी को विष्णु की अन्तिम तथा नित्य शक्ति माना गया है। यही परमशक्ति संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के रूप में प्रकट हैं। ये भिन्नशक्तियां अभिव्यक्त होने पर ही गोचर होती हैं किन्तु जब ये अव्यक्त दशा में होती हैं तब भी श्रीविष्णु में लक्ष्मीरूप से परमशक्ति के रूप में अवस्थित रहती हैं। व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष, काल तथा योग का श्रीलक्ष्मी में ही निवास रहता है। लक्ष्मी ही ऐसी परमा शक्ति हैं जिसमें सभीका लय होता है। मुक्त जीव इसी मातृशक्ति लक्ष्मी में प्रवेश करते हैं जो श्रीविष्णु का परमधाम है। यह स्वरूप से आनन्दमयी है तथा इसके अन्तराल में आनन्त तत्व है तथा यही उत्पत्ति, स्थिति, संहार, अनुग्रह तथा निग्रह रूपी पांच कार्यों की करनेवाली मानी गयी है। इस शक्ति का अंशमात्र भाव्य तथा भावक शक्ति के रूप में व्यक्त होता है। जिसमें भावक शक्ति सुदर्शन के नाम से तथा भाव्य जगत् के रूप में प्रकट होती है,जिसका उद्देश्य भी संसार है। इस प्रकार विष्णु से एकात्मता का अर्थ सुदर्शन से तादाम्य या श्री लक्ष्मी में प्रवेश होकर लीनता प्राप्त करना है।

पाञ्चरात्र मत में एक भक्त या उपासक के लिये उपादेय तत्व है ईश्वर प्राप्ति के लिये साधन भूत प्रपत्ति, न्यास या शरणागति का सिद्धान्त। यहां शरणागति की व्याख्या इस प्रकार है कि हम जीव होने से पाप तथा दोषों में लिप्त हैं तथा श्रीविष्णु के अनुग्रह के प्राप्त न होने से भटके हुए हैं तथा सर्वथा निराधार हैं। इस विश्वास से परमेश्वर के अनुग्रह की याचना करना शरणागति है। जो साधक भक्त या पुरुष प्रपत्ति के इसी मार्ग को ग्रहण करता है उसे सभी जैसे तप, यज्ञ, तीर्थाटन, दान आदि से समग्र फल की अनायास प्राप्ति होकर बिना अन्य साधन के सरलता से मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। प्रपत्ति मार्ग अपनाने के लिए केवल एक भाव ही अपेक्षित होता है कि साधक या भक्त श्रीविष्णु पर सर्वथा आश्रित रहे हैं और अपने को सर्वदा नितान्त निराधार समझे। इस भावना में दृढ़ता से आस्था तथा विश्वास करते हुए जब साधक या भक्त श्रीविष्णु की आराधना में रत रहता है तो फिर उसे कोई अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है तथा उसका अभीष्ट कार्य ईश्वर ही सब कुछ कर देता है। यह प्रपत्ति एक प्रकार का उपाय ज्ञान है, उपाय नहीं है। यह एक प्रकार की धारणा या मति है, कर्म नहीं है। यही बात इस प्रकार समझी जा सकती है कि यह एक तरणी है जिसमें यात्री बैठता है और मल्लाह उसे पार कर देता है। यह तत्व पाञ्चरात्र आगम में परम्परा के अनुगत श्रुति, पुराण आदि सभी से अविरोध रखता है तथा वैष्णवमत का परिचायक सुदृढ़ आधार तत्व भी है।

पाञ्चरात्र मत वैदिक तथा तान्त्रिक सिद्धान्तों का आधार लेकर प्रवृत्त रहने से मन्त्र के गुह्य

रहस्यों को मानता है। इसके अनुसार जगत् सुदर्शन से उत्पन्न है अतः जगत् की सभी शक्तियां सुदर्शन के रूप हैं। जैसा कि कहा भी है–

"सुदर्शनाह्वया देवी सर्वकृत्यकरी विभोः ।
तन्मयं विद्धि सामर्थ्यं सर्वं सर्वपदार्थजम् ॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य मुक्तेर्बन्धत्रयस्य च ।
यद्यत् स्वकार्यसामर्थ्यं तत्तत् सौदर्शनं वपुः ॥"

अर्थात् सुदर्शन की शक्ति चेतन तथा जड़ समस्त पदार्थों में तथा बन्धन और मोक्ष के रूप में प्रकट है। जो भी उत्पन्न करने की शक्ति रखता है वह सुदर्शन शक्ति का ही प्रकटीकरण है।

मन्त्र भी शुद्धचैतन्यरूप श्रीविष्णु की शक्ति है। घण्टों की दीर्घ ध्वनि के रूप में सर्वप्रथम जो अभिव्यक्ति होती है वह "नाद" कहलाती है जिसे केवल योगी ही सुन सकते हैं या यह उन्हें ही प्रत्यक्ष होती है। दूसरी अभिव्यक्ति सागर से बूँद की तरह होनेवाली मानी गयी है जिसे "बिन्दु" माना गया। "बिन्दु" में नाम तथा उसके द्वारा संकेतित शक्ति का तादाम्य होता है। इसके बाद नामी का उदय होता है जो शब्द-ब्रह्मन् है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण की उत्पत्ति के साथ तदनुरूप अर्थशक्ति (नाम्युदय) भी उत्पन्न होती है। बिन्दु शक्ति के स्वर तथा व्यञ्जन उत्पन्न होते हैं। जिनकी वैष्णव मान्यता यह है कि श्रीविष्णु की कुण्डलिनी शक्ति के भ्रमण या नृत्य के १४ प्रकार के प्रयत्नों से १४ स्वरों की उत्पत्ति हो जाती है। यह शक्ति जब मूलाधार से उठकर नाभिप्रदेश तक रहती है तो यह "पश्यन्ती" कहलाती है। योगी ही इसका अनुभव कर सकते हैं। आगे जब वही हृदय कमल की ओर बढ़ती है और कण्ठ द्वारा व्यक्त शब्दरूप में प्रकट होती है। स्वरशक्ति सुषमा नाड़ी में से चलती है तथा इस प्रकार भिन्न भिन्न व्यञ्जनों की ध्वनियां जगत् की भिन्न शक्तियों के आदर्शरूप है, वे भिन्न भिन्न देवताओं की शक्तियों की अध्यक्ष होती हैं। इनमें से कुछ वर्णों का भिन्न क्रम तथा व्यूह में समुच्चय, जिसे चक्र या कमल कहते हैं विभिन्नाकार वाली जटिल शक्तियों का प्रतिनिधि माना जाता है। इन चक्रों की अर्चना और ध्यान करने से चक्र में निहित शक्ति को वश में किया जाता है। यहां प्रत्येक चक्र तथा मन्त्र के साथ भिन्न भिन्न देवताओं का सम्बन्ध रहता है। पञ्चरात्र ग्रन्थों के अधिकांश भाग इन चक्र तथा देवताओं के वर्णन तथा इनकी अर्चाक्रम, इनके अनुरूप देव प्रतिमा तथा इनके मन्दिर निर्माण के विवरण से भरे हुए हैं।

पाञ्चरात्र आगम में भक्त को योगी बनने की बात कही जा चुकी है। अतः इनके ग्रन्थों में भी योग विषयक विवरण रखा जाता है। जिसमें नाड़ीतन्त्र का वर्णन शरीरस्थ नाड़ियों आदि का योग के साधनार्थ विवरण है। यह वर्णन शाक्ततन्त्र से तथा आयुर्वेद के नाड़ी विवरण से भिन्न है और अपनी स्वतंत्र स्थिति रखता है। वैष्णव-आगम में योग को जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग माना जाता है। इनका मत है कि अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के दो मार्ग हैं–इनमें एक है श्रीविष्णु की कोई एक शक्ति के रूप में ध्यान लगाकर उसमें आत्मसमर्पण करना जिसे छदम्बुयोग कहा जाता है। यहां किसी एक विशेषरूप परमन्त्र द्वारा ध्यान केन्द्रित किया जात है। दूसरा मार्ग योग का है। यहां जीवात्मा के दो प्रकार माने गये है। इनमें एक वह जो प्रकृति से प्रभावित हैं तथा दूसरा वह जो प्रकृति के प्रभाव से परे हैं। यहां यह भी माना गया कि परमेश्वर से कर्म और ज्ञान के द्वारा तादाम्य स्थापित किया जा सकता है। कर्म के भी दो प्रकार माने गये हैं जिनमें एक इच्छाप्रेरित या प्रवर्तक और दूसरा इच्छा से रहित या निवर्तक कहलाता है। इनमें से दूसरे प्रकार का कर्म मुक्ति प्राप्त करवा सकता है और प्रथम रूप का कर्म इच्छा की फल-प्राप्ति तक सीमित है। परमात्मा जिसके अनन्त कल्याणकारी गुण हैं तथा जो सूक्ष्म, अनादि, अनन्त एवं अविकारी है। जो

नटीव कुण्डली शक्तिराद्या विष्णोर्विजृम्भते । (अहि० ११/२५)

विष्णुशक्तिमया वर्णाः विष्णुसङ्कल्पजृम्भिताः अधिष्ठिता यथा भावैस्तथा तन्मे निशामय ॥ ("अहि० १७/३")

ज्ञान क्रिया विरहित, अकाम, अजाति और निर्गुण होकर भी सर्वज्ञ, स्वयंप्रकाश्य , सर्वव्यापी तथा सभी का पालनकर्ता है तथा जो सहजबोधगम्य भी है। योग के द्वारा लघुभूत आत्मा या जीव का संयोग परमात्मा से बनता है। यह योग अष्टांग द्वारा सिद्ध माना गया है। जो कि–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्याहार तथा समाधि नामक आठ अंग है। इनमें यम में सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा आते हैं तथा नियम में सिद्धान्तश्रवण, दान, मति, ईश्वरार्चा, सन्तोष, तप आस्तिक्य, ह्री, मन्त्रजप, व्रतोपवास आदि रखे गये हैं। योगविषयक यह सभी वैष्णव आगमिक विवरण पातञ्जलयोगशास्त्र से भिन्न हैं।

आगम में प्रमाणमीमांसा भी अन्य शास्त्रों की तरह अपेक्षित रहने से इसकी पूर्ति की भावना से प्रमाणादि पर भी यहाँ विचार मिलता है। यहां प्रमाका लक्षण "यथार्थावधारणम्" दिया गया है जिसका अर्थ है वस्तु का यथार्थज्ञान प्रमा है और जो प्रमाण से ग्राह्य होती है। मनुष्य के लिये हितकर जो वस्तु प्रमाण से प्राप्त होती है वह प्रमाणार्थ कहा जाता है। यह दो प्रकार का है–इनमें एक वह जो आत्यन्तिक तथा एकान्तिक हित का आधान करता हो तथा दूसरा परोक्षरूप से हितकर होता है जिसे हितसाधन या हित कहा गया हो। परमेश्वर से तादाम्य प्राप्ति अतिशय आनन्दमयी और अत्यन्त हितकारी मानी गयी है। अतः इसकी प्राप्ति के दो मार्ग-धर्म तथा ज्ञान हैं। ज्ञान के भी दो भेद हैं–साक्षात्कार तथा परोक्ष। धर्म से ज्ञान उत्पन्न होता है जो दो प्रकार का है–प्रथम वह जो ईश्वरभक्ति की साक्षात् प्रेरणा देता हो तथा दूसरा वह जो परोक्ष रूप से प्रेरणा करता है। ईश्वर की दृष्टि से आत्मसमर्पण या हृदसंयोग परोक्ष धर्म है तथा जिस मार्ग से योगी भगवत्साक्षात्कार करता है वह साक्षात् धर्म कहलाता है जो पाञ्चरात्र ग्रन्थों में उपदिष्ट है और सात्वत-शासन कहलाता है। पुरुषार्थ भूत धर्म, अर्थ तथा काम की तरह मोक्ष भी साध्य है। यद्यपि ये तीनों भी परस्पर सहायक रहते हुए मोक्ष को साध्य बनाते हैं।

वैखानस-आगम–

वैखानस-आगम विखनस से प्रवर्तित था यह बतला आये हैं। छान्दोग्योपनिषद् के अर्चियान प्रकरण में वैखानस पद का शाङ्करभाष्य में अर्थ वानप्रस्थी किया गया है। **वैखानसगृह्यसूत्र** की तात्पर्य चिन्तामणि टीका में दशविधिहेतु निरूपण में बतलाया है कि वैखानसों को श्रीनारायण गर्भ में ही मुद्राधारण करवा देते हैं। जैसे वृक्षों में अश्वत्थ, पशुओं में कपिला गौ, पौधों में तुलसी पवित्र हैं, उसी तरह द्विजों में ब्राह्मण, तथा ब्राह्मणों में वैखानस श्रेष्ठ होते हैं। यथा–

"विप्रा वैखानसाख्या ये ते स्मृताः भगवत्प्रियाः ।
अश्वत्थः कपिलागावस्तुलसी विखनास्तथा ।
द्विजेषु ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः ब्राह्मणेषु च वैष्णवाः ॥"

यद्यपि पाञ्चरात्र मत जैसे भगवद्भक्ति का उपदेशक है उसी प्रकार वैखानस भी है किन्तु दोनों में अन्तर भी है। वैखानस पूजन या अर्चा को वैदिक-पूजन कहते हैं तथा पाञ्चरात्र इसे शुद्धपूजन कहते हैं। "पुष्करसंहिता" के तन्त्रभेदनिर्णय प्रसंग में यह भेद इस प्रकार बतलाया है–

"शुद्धञ्च वैदिकञ्चेति तान्त्रिकञ्च त्रिधा भवेत् ।
पाञ्चरात्रेण पूजा तु शुद्धं विष्णोरिति स्मृतम् ॥
वैखानसः स्वसूत्रेण पूजयेद् विष्णुमव्ययम् ।
वैदिकं तदिति प्रोक्तं द्विजातीनां प्रशस्यते ॥"

इसके अतिरिक्त इन दोनों में अन्य भेद भी हैं। वैखानस मत में पांच मूर्तियों की अर्चा की जाती है तथा पाञ्चरात्र केवल चार मूर्तियों के चतुर्व्यूह की अर्चना करते हैं। वैखानसमत की पांच मूर्तियां है–श्रीविष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध। पाञ्चरात्र मत की मूर्तियां है–वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। महाभारत के अश्वमेधिक पर्व में युधिष्ठिर के प्रश्न का वासुदेव ने यह

समाधान दिया था–

युधिष्ठिर उवाच–कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्तयः कीदृशाश्च ते ।
वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः ॥
श्रीभगवानुवाच–श्रुणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः ।
स्थितं मां मन्त्रतस्तस्मिन्नर्चयेत् सुसमाहितः ।
विष्णुञ्च पुरुषं सत्यमच्युतञ्च युधिष्ठिर ।
अनिरुद्धञ्च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः ।
अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ।
वासुदेवञ्च राजेन्द्र सङ्कर्षणमथापि वा ।
प्रद्युम्नञ्चानिरुद्धञ्च चतुर्मूर्तिं प्रचक्षते ॥ इति ॥

इन दोनों सम्प्रदायों में श्रीविष्णु की अर्चा का अतिशय महत्वपूर्ण स्थान है। वेदों में यज्ञ को विष्णुरूप कहा गया है–**यज्ञोह वै विष्णुः**– अतः श्रीविष्णु पूजन भी यज्ञ ही है। दोनों सम्प्रदाय यज्ञ तथा देवालय की समता बतलाते हैं कि यज्ञशाला में अग्निस्थापन है तो देवालय में विष्णुस्थापन है। यज्ञशाला में हिरण्यकलश स्थापन है तो बिम्बपीठ पर रत्नकलश स्थापित रहता है। अग्नि पांच है–गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्य, सभ्य तथा आवसथ्य। विग्रह भी पांच हैं–ध्रुव, कौतुक, उत्सव, स्नपन तथा बलि। जैसे श्रौतकर्म में गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि को लेते हैं वैसे ही ध्रुव विग्रहसे परमात्मा को कौतुक विग्रह में ले जाया जाता है। जैसा सभ्याग्नि तथा आवसथ्याग्नि को छोड़ कर त्रेताग्नि प्रसिद्ध है वैसे ही कौतुक तथा स्नपन को छोड़ कर शेष तीन ध्रुव, उत्सव तथा बलि विग्रह अधिक प्रसिद्ध हैं।

परमेश्वर श्रीविष्णु की अर्चा दो प्रकार से की जाती है–समूर्त्त अर्चन तथा अमूर्त्त अर्चन। इनमें समूर्त्त अर्चन विग्रहों में तथा अमूर्त्त अर्चन होमादि यज्ञ में विष्णु की रखी जाती है। यहां भी स्वार्थ अर्चना स्वगृह में एवं परार्थ अर्चना जगत्-कल्याणार्थ देवालयों में होती है। आहिताग्नि को जैसे अग्नि में आहुति देने का अधिकार रहने पर अनाहिताग्नि पुरुष उसे सामग्री देकर भी वैसा फल प्राप्त कर सकता है वैसे ही अर्चना के अनधिकारी व्यक्ति अधिकारी व्यक्ति को विग्रह के लिये पूजन सामग्री आदि उपकरण प्रस्तुत कर स्वपुण्य फलप्राप्ति करते हैं। देवालय इसी उद्देश्य से हैं कि सभी देवार्चन अथवा यज्ञ के फल को प्राप्त कर सकें।

जैसे यज्ञ में पञ्चाग्नि होती हैं उसी प्रकर वैखानस मत के अनुसार देवालय मे पांच विग्रह होते हैं। यथा–ध्रुव, कौतुक, उत्सव, स्नपन तथा बलि। ये पाँच विग्रह वैखानस सम्प्रदाय में मान्य हैं। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में छः विग्रह तथा अर्चा मान्य है। ये हैं–ध्रुवार्चा, कर्मार्चा, उत्सवार्चा, बल्यर्चा, तीर्थार्चा तथा शयनार्चा। इनके अन्य नाम हैं– कर्मार्चा, बल्यर्चा, यात्रार्चा, कृत्रिमालयार्चा, यागार्चा तथा स्नानार्चा। परमेश्वर का विग्रह अचल तथा चल माना जाता है अतः अचल के पूजनार्थ ध्रुव विग्रह स्थापित करते हैं। इन विग्रहों के नाम से इनका प्रयोजन भी अभिव्यक्त होता है। समग्र संवत्सर में अनेक उत्सव रहते हैं जिनमें प्रभु देवालय से बाहर भी गजवाहन, गरुड़ वाहन आदि दशाओं में यात्रा आदि रूप में जाते हैं तदर्थ उत्सव विग्रह होता है। इसी प्रकार स्नान, बलि तथा शयन के लिये भी पृथक् पृथक् तत्तद् विग्रह नियत होते हैं। स्नपन विग्रह में पूजा के समय ध्रुववेर से कुश के द्वारा सम्बन्ध स्थापित कर स्नपन विग्रह में प्रभु की प्रतिष्ठा कर स्नानार्चन के बाद पुनः ध्रुववेर में स्थापित करने की विधि होती है। ध्रुववेर प्रधान होता है तथा चार या पांच वेर ध्रुववेर सें पूर्वादिक्रम से स्थापित की जाती है।

ये वेर या विग्रह तीन प्रकार के माने जाते हैं–चित्र, चित्रार्थ तथा चित्राभास। जो विग्रह अपने मान, प्रमाण, उन्मान, परिमाण, उपमान तथा लम्बमान से युक्त हो वह चित्रबिम्ब या चित्रवेर है।

इस बिम्ब में प्रभु के सभी अवयव दृश्य होते हैं तथा यह बिम्ब लौकिक तथा पारलौकिक सभी फलों का प्रदान करनेवाला होता है। चित्रार्थ में सर्वावयव अर्द्धदृश्य होते हैं अतः यह बिम्ब केवल लौकिक फलों का प्रदाता होता है। चित्राभास वह है जिसमें ऊंचाई और लम्बाई के मान पर अधिक विचार न रखते हुए वस्त्र, काष्ठफलक या भित्ति पर अंकित किया जाता है।

पुनः ये विग्रह वैखानसों के मत में तीन तथा पाञ्चरात्रों के मत में चार प्रकार की स्थिति के कारण चार प्रकार के होते हैं। खड़ीमूर्ति, आसनबद्ध या बैठी हुई मूर्ति तथा शयानमूर्ति। ये तीन भेद वैखानस मानते हैं। इन भेदों के साथ पांचरात्र में यानग या वाहन पर स्थिति वाले विग्रह का चौथा भेद माना गया है। ये सभी विग्रह भोग, योग नीर तथा अभिचारिक भेद से प्रत्येक की एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में इन भेदों के अतिरिक्त कुछ विशेष भेदों की कल्पना भी की गई है जिन्हें विस्तार भय से यहाँ नहीं दिया जा रहा है, उन्हें यथास्थान जिज्ञासु तथा विशेषार्थ के अन्वेषकजन तत्तत् स्थानों पर शास्त्रग्रन्थों का अवलोकन करें।

इसमें कामना भेद से तत्तद् विग्रहों की अर्चा की स्थिति मानी गयी है। यज्ञों से होनेवाले अर्थव्ययों तथा असुविधाओं को ध्यान में रखकर वैखानस तथा पाञ्चरात्र आगमों में जगत्हितार्थ तथा कामनापूर्ति एवं उद्दिष्टफलों की उपलब्धि के लिये विग्रहार्चन का विधान अधिकरूप से किया जाता है जिनकी विधियां इन आगमों के अनुगत पद्धतिग्रन्थों में विद्यमान हैं तथा उनके प्रयोगों का समय समय पर अर्चा में उपयोग किया जाता है जिनका ज्ञान सम्बद्ध आचार्य रखते हैं।

नारदपञ्चरात्र–

पिछले पृष्ठों में पाञ्चरात्र-आगम की चर्चा की जा चुकी है। "नारद पञ्चरात्र" का वैष्णवआगम के अन्तर्गत एक विशिष्ट स्थान तो है ही इसकी गणना भी प्राचीनतम आगमग्रन्थों में की जाती है। इतिहास के विद्वानों के मत में श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ही इससे प्राचीन माना गया है जिसकी तात्विक रूप में भक्तिसिद्धान्त के साथ अर्चादि विधानादि से संयुक्त पाञ्चरात्र आगम में शास्त्रीय स्थिति को दिखलाया गया था। इसमें सर्वाधिक बल श्रीवासुदेव की दास्य-भक्ति तथा इसी से मुक्ति की प्राप्ति पर दिया गया है। इसके प्रतिपाद्य विषयों में श्रीकृष्ण, श्रीगोपाल तथा श्रीराधा की प्रशस्ति, इनकी अर्चा तथा इन्हीं के आगमोक्त सहस्रनाम, कवच तथा न्यास आदि का विधान दिखलाया गया है। इसकी मान्यता है कि श्रीकृष्ण की आराधना के बाद भक्त को सभी पदार्थों की प्राप्ति संभव है। इसमें भगवान् शिव के द्वारा दिये गये नारद को उपदेश तथा मन्त्र आदि में श्रीकृष्ण की आराधना को मोक्षप्राप्ति का परम साधन निरूपित किया गया है। नारद स्वयं इस पाञ्चरात्र आगमग्रन्थ का उपक्रम इस प्रकार करते हैं–

"वेदेभ्यो दधिसिन्धुभ्यः चतुर्थः सुमनोहरम् ।
तज्ज्ञानमन्थदण्डेन सन्निर्मथ्य नवं नवम् ।
नवनीतं समुद्धृत्य नत्वा शम्भोः पदाम्बुजम् ॥
विधिपुत्रो नारदोऽहं पञ्चरात्रं समारभे ॥

(ना० प० रात्रि । अ० १/१०-११)

यह कथन इस शास्त्र की समृद्ध एवं प्रामाणिकता को दिखलाने के साथ साथ नारदप्रोक्त स्थिति की ओर भी संकेत करता है। पाञ्चरात्र पद की व्याख्या भी इसमें स्वयं ग्रन्थकार ने ही की है। यथा–

"रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् ।
तेनेदं पञ्चरात्रञ्च प्रवदन्ति मनीषिणः ।
ज्ञानं परमतत्वञ्च मृत्युञ्जयजरापहम् ॥

(रा० । अ० १/४४–४५)

इस प्रकार रात्र पद की व्याख्या के साथ पञ्चरात्र आगम की परम्परा में इस शास्त्र के अनेक ग्रन्थों का विवरण दिया है। तदनुसार इस शास्त्र के सात शास्त्रकर्तागण मान्य हैं। यथा—

ब्राह्मं शैवञ्च कौमारं वासिष्ठं कापिलं परम्।
गौतमीयं नारदीयमिदं सप्तविधं स्मृतम्॥

(वही ।/–५७)

इस विवरण के अनुसार इस पञ्चरात्र शास्त्र के छः अन्य शास्त्रकर्ता भी हैं जिनके इस वैष्णव आगम पर ग्रन्थ हैं। प्रकृत ग्रन्थ इन छः ग्रन्थों के अनुशीलन की भी सूचना देता है। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम नारद को एक देववाणी का श्रवण होता है जिसमें श्रीहरि की उपासना का कार्य ही सर्वोपरि कहकर उसे प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी—

"आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥
विरम विरम ब्रह्मन् किं तपस्यासु वत्स
व्रज व्रज द्विज शीघ्रं शङ्करं ज्ञानसिन्धुम्।
लभ लभ हरिभक्तिं वैष्णवोक्तां सुपक्वाम्
भवनिगड़निबद्धच्छेदिनीं कर्त्तनीञ्च॥

(ना० प० रात्रि ।/अ० २/६–७)

इस देवी कथन को सुनकर नारद अपने पिता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के समीप इसकी व्याख्या हेतु जाते हैं। वहां वह सनत्कुमार तथा ब्रह्मा को इन दो श्लोकों को सुनाता है। ब्रह्मा ने इनकी व्याख्या करते हुए नारद को शंकर से दीक्षा लेकर वैष्णव अर्चा आदि की पारम्परिक विधि का पालन कर भक्ति की चरितार्थता का रहस्य बतलाया तथा नारद ने भी तदनुसार बड़ी साधना के बाद भगवान् शिव से उपदेश में एकान्ती श्रीविष्णु की भक्ति का तत्व प्राप्त किया।

नारद पञ्चरात्र ग्रन्थ में पांच रात्र या खण्ड हैं जिनमें प्रथमरात्र में पन्द्रह, दूसरे में आठ, तीसरे में पन्द्रह, चौथे में ग्यारह तथा पांचवे में ग्यारह अध्याय हैं। इनमें वैष्णव धर्म तथा उसके आदिदेव श्रीविष्णुरूप वासुदेवकृष्ण तथा श्रीराधा के तात्विक आराधना का विस्तार से विवरण रखा गया है। इसमें अपना पक्ष प्रस्तुत करने तथा उसे परमोयोगी एवं हितावह दिखलाने की भावना से आस्था जाग्रत करने के लिये ही अन्य देवों तथा धर्मों की उपासना प्रक्रिया की समीक्षा रखी है, जिसे किसी अन्य देव तथा उनकी उपासना पर प्रहार नहीं समझना चाहिए। पाञ्चरात्र-आगम के ग्रन्थों में नारदपञ्चरात्र मध्यमणि की तरह महत्वपूर्ण स्थान पर विद्यमान है।

भारद्वाजसंहिता

पाञ्चरात्रआगम की अतिसमृद्ध ग्रन्थ सम्पत्ति रहने से इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। यह ग्रन्थ नारदपञ्चरात्र का वार्तिक भूत परिशिष्ट है जिसमें चार अध्याय हैं तथा इन्हीं चार अध्यायों की शेषभूत तात्विक व्याख्या को परिशिष्ट में देकर इस शास्त्र की समग्र पूर्ति की गई है। भारद्वाजसंहिता में विद्यमान द्वितीय अध्याय थोड़ा ही है तथा ऐसा माना जाता है कि यह भाग अब प्राप्य नहीं है। हमने भी भारत के मुख्य मुख्य तथा प्रामाणिक हस्तलिखित ग्रन्थों के पुस्तकालयों में खोजने पर तथा उनके सूची ग्रन्थों में देखने पर भी उक्त द्वितीय अध्याय की पूर्ण प्रति नहीं देखी। अतः श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस की पहिले मुद्रित प्रति के पाठ को लेकर ही सम्पादन तथा हिन्दी व्याख्या का कार्य-सम्पन्न किया।

आगम परम्परा में पाञ्चरात्र के प्रवर्तक मुनियों में सनत्कुमार नारदादि ब्रह्मपुत्रों से इस आगम

का ज्ञान भारद्वाज मुनि ने प्राप्त किया था जो पांच मुनियों में एक थे तथा इसी कारण यह पाञ्चरात्र कहलाया इसे पूर्व में बतला चुके हैं। इसी क्रम में पाञ्चरात्र के कुछ अनुन्मीलित उपासनादि के तत्वों की साधकादि भक्तों के लिये "भारद्वाजसंहिता" में चर्चा है जो नारदपञ्चरात्र (ग्रन्थ) में नहीं है। इसी कारण यह संहिता वार्तिक के समान आदर पा रही है। इसके भी परिशिष्ट में चारों अध्यायों के चर्चित तथ्यों पर और विवेचन है जो संहिता में संक्षेप में दिखलाया गया था।

भारद्वाज संहिता के प्रथमाध्याय में मुख्यरूपसे न्यासयोग या भगवत्प्रपत्ति को ईश्वर की प्राप्ति तथा मोक्ष के लिये परमोपयोगी दिखलाकर शिष्य या साधक को न्यासयोग की दीक्षा प्रदान करने की विधि तथा वृत्ति आदि का विस्तार से विवरण दिया गया है। इस क्रम में इस दीक्षा तथा उपासना के लिये अधिकारी सभी वर्ण तथा स्त्री, शूद्र, म्लेच्छ आदि जातियों को भी मान्य किया गया है जो सभी तन्त्र एवं आगम परम्परा का अनुसरण करने वाला मत है। इन सभी के लिये दीक्षाप्रदाता गुरु पात्रानुरूप वैदिक, तान्त्रिक तथा भाषा मन्त्रों में से उपयुक्त मन्त्र का उपदेश देकर उन्हें श्रीहरि की प्रपत्ति अथवा न्यासयोग की दीक्षा सम्पन्न करवाता है।

इसी क्रम में द्वितीयाध्याय में प्रपत्ति के अंगों की विवृत्ति है परन्तु परम्परा में द्वितीयाध्याय लुप्त है। तृतीयाध्याय में न्यासयोग प्राप्त कर लेने वाले आराधक के अर्चा तथा अन्य दैनिक तथा नैतिक कार्यों तथा विधानों का विवरण है तथा उसके द्वारा मुद्रा तप्त चक्रादि के अंकन तथा ऊर्ध्वपुण्ड्ग धारण की विधि बतलायी गई है जिससे भक्ति में परिनिष्ठता आ सके। चतुर्थाध्याय में आराधक के लिये वृत्ति तथा उसके अंगों का विस्तार से विवरण दिया गया है।

भारद्वाज-संहिता के इन चारों अध्यायों पर परिशिष्ट के चार अध्याय और लगाये गये हैं जिनमें चारों अध्यायों में उपदिष्ट तत्वों के विषय में छोड़े गये तात्विक विवरणों को लेकर पाञ्चरात्र आगम की परम्परा तथा रहस्यों का स्पष्टीकरण किया गया है। वैष्णव परम्परा में पाञ्चरात्र आगम को दिव्यशास्त्र माना गया है तथा इसका श्रवण तथा अनुचिन्तन उपासक को अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वैराग्य, ज्ञान तथा भक्ति के परिपाक के द्वारा ही परमेश्वर की प्राप्ति तथा मुक्ति मिलती है। इस ग्रन्थ की इस प्रकार संक्षिप्त चर्चा के साथ प्रकृत ग्रन्थ के अध्ययन तथा चिन्तन की ओर स्वतः प्रवृत्ति बनकर उपासकों एवं पाठकों का इस शास्त्र में प्रवेश होगा ऐसी आशा है।

प्रकृत संस्करण

नारदपञ्चरात्र–भारद्वाजसंहिता का वैष्णव आगम के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान था परन्तु यह ग्रन्थ पूर्व में भी खेमराज श्रीकृष्णदास के वेङ्कटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित होकर लगभग तीस वर्षों से अनुपलब्ध रहा। जब इस ग्रन्थ का मुद्रण हुआ था उस समय वह संस्कृत भाषा में छपा था। इतने वर्षों के अन्तराल के पश्चात् इस ग्रन्थ की पुनः प्रकाशन की योजना पुनः प्रकाशक ने ऐसी बनाई कि हिन्दी व्याख्या के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित होकर सर्वजन हितार्थ वनें। यह कार्य करने का प्रकाशक का प्रस्ताव मैंने सहर्ष स्वीकार कर इस ग्रन्थ पर **"तत्वप्रकाशिका"** नामक हिन्दी व्याख्या तैयार की तथा अपेक्षित टिप्पणी तथा श्लोकानुक्रमणिका आदि के साथ "प्रस्तावना" से युक्त करते हुए यह ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया। प्रस्तावना भाग में इस शास्त्र के ऐतिहासिक तथा अन्य सभी पक्षों की चर्चा रखकर अनुशीलन कर्ताओं की अपेक्षा की पूर्ति के साथ अब यह प्रकाशित करवाया जा रहा है। इससे सुधीजन अवश्य **संतुष्ट** होंगे यही आशा है।

आभार

सर्वप्रथम नारदपञ्चरात्र तथा भारद्वाजसंहिता के अनुसन्धान अनुशीलन में सहायता करने वाले पञ्चरात्र आगम के विविध ग्रन्थों के रचयिताओं, सम्पादकों तथा ग्रन्थकारों का आभार मानता हूं जिनके कारण प्रकृत ग्रन्थ इस रूप को प्राप्त कर सका। इसके हिन्दी व्याख्यादि के लेखनक्रम में सहायता

करने के प्रसंग में मैं अपने मित्र डॉ० रुद्रदेवजी त्रिपाठी प्रकाशन सम्पादन तथा अनुसन्धान अधिकारी, ब्रजमोहन बिड़ला शोध केन्द्र, उज्जैन का आभार मानता हूँ। कालिदास अकादमी के सञ्चालक श्री प्रोफेसर श्रीनिवास "रथ" का भी इस ग्रन्थ के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में सहायक बन प्रेरित करने के साथ साथ प्रकाशन तक के कार्य में योगदान के कारण आभारी हूँ। कालिदास अकादमी परिवार के डॉ० जगदीश शर्मा, अनुसंधान सहकारी का तथा टंकण कार्य में सहायता के कारण श्री अवधेश श्रीवास्तव तथा श्री आर० जे० पानड़ीवाल का भी आभार मानता हूँ। इस ग्रन्थ को अपने प्रकाशनक्रम में लगाकर शीघ्र मुद्रणादि कार्य पूर्ण करवाने के कारण सर्वप्रथम श्रीमुरलीधरजी बजाज, स्वामी खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन बम्बई का तथा इसी प्रतिष्ठान के व्यवस्थापक भाई श्री ऋषिकेश शर्माजी का भी हृदय से आभारी हूँ। मुद्रणादि कार्य में रुचि लेकर समय पर कार्य पूर्ण करने के लिये वेङ्कटेश्वर प्रेस के सभी कर्मचारियों का भी आभारी हूं। उज्जैन के बालाजी पुस्तकालय के व्यवस्थापक श्रीतरुणकुमार गर्ग का मैं किन शब्दों में आभार मानूं। इसके साथ मुद्रण की या विवेचन के क्रम में रहनेवाले स्खलनों के लिये विनम्र क्षमाप्रार्थना के साथ सभी विद्वज्जन एवं पाठकों को प्रकृत ग्रन्थ को अपनाकर सहृदयता के साथ अनुग्रह रखने की साग्रह प्रार्थना करता हूं। आशा है इस ग्रन्थ का वे पूरी तत्परता से स्वागत करेंगे। सुधीजन से निवेदन के इस पद्य के साथ इस प्रकृत कथन का उपसंहार करता हूँ।

"इह प्रमादान्मति-विभ्रमाद्वा भवेत् क्वचिन्मे स्खलितं बुधैस्तत् ।
संशोधनीयं कृपया यदीशादन्यो न सर्वज्ञपदं प्रयाति ॥" इति

निवेदकः
विदुषां वशंवदः
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री,
हिन्दी व्याख्याकारः सम्पादकश्च
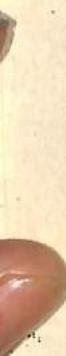
नारदपञ्चरात्र भारद्वाजसंहिता विषयानुक्रमणिका

ॐ

नारदपञ्चरात्र–भारद्वाजसंहिता

तत्वप्रकाशिकाख्याभिनवहिन्दीव्याख्यया सहिता

अथ न्यासोपदेशो नाम प्रथमोऽध्यायः

श्रुत्वा तु सकलान् धर्मान् सिद्धिमेषाञ्च शाश्वतीम् ।।
भूय एव मुनिश्रेष्ठमिदमूचुर्महर्षयः ।।१।।

ॐ नमः परब्रह्मणे

अथ न्यासोपदेश नामक प्रथम-अध्याय

समस्त निःश्रेयससाधनों के आपादक धर्मों[1] को तथा उन उन धर्मों तथा विद्याओं के विषय, प्रतिपादित इष्ट देवताओं के नियत गुणादि एवं उनके द्वारा प्राप्त होने वाली फलभूत सिद्धियों को सुन लेने के बाद भी महर्षिगण मुनिश्रेष्ठ भारद्वाज से पुनः प्रश्न की भावना से इस प्रकार बोले।।१।।

केनोपायेन भगवन्निह सर्वेऽपि जन्तवः ।
प्राप्नुयुः परमां सिद्धिं सद्यो विगतकल्मषाः ।।२।।

हे भगवन्, इस लोक में सभी प्राणी अपने अपने कल्मषों को सद्यः दूर करते हुए परमनिःश्रेयस् की प्राप्ति किस उपाय से कर सकते हैं, इसे हमें बतलाइये[2] ।।२।।

---

१ यहाँ प्रयुक्त धर्मशास्त्र सम्मत सामान्य धर्म का बोधक होकर भी प्रकरण के अनुरोध के कारण अलौकिक निःश्रेयस परक भी है तथा कारिका में दिये हुए बहुवचन से उन उन विद्याओं में प्रदर्शित परमेश्वर के नियत गुणविशेष तथा विद्याओं की अनेक शाखाओं को भी संकेतित किया गया है।

२ सभी वर्णों के अधिकार वाला तथा अपेक्षित काल एवं मोक्ष के फल को सम्पादन करनेवाला शीघ्र फलदायी उपाय क्या है (जो अतिशय पीड़ा या आर्ति वाले प्राणी को बिना किसी व्यवधान या विलम्ब के मोक्ष का सम्पादन कर दे, ऐसा उपाय क्या है।)

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा भरद्वाजो महामनाः ।
सस्मार परमं गुह्यं पुनश्चेदमभाषत ॥३॥

सभी प्राणियों के कलुषों को शीघ्र दूर कर मुक्ति या निःश्रेयस प्रदान करनेवाले मुनिजन के वचनों को सुनकर महातपोनिधि भारद्वाज ऋषि ने परम गुह्य रहस्यों की ओर ध्यान लगाया (और चिन्तन के) बाद में वे उन मुनियों से इस प्रकार कहने लगे॥३॥

श्रूयतां सम्प्रवक्ष्यामि न्यासाख्यं योगमुत्तमम् ।
सिद्धिश्चैवास्य परमां द्वयमेतच्छ्रुतम् मया ॥४॥

हे मुनिगण! आप ध्यान से सुनें, मैं आपको समस्त प्राणियों के कल्मष निवारक 'न्यास' नामक एक उत्तम[1] योग तथा उससे प्राप्त होनेवाली फलरूप सिद्धियों को कहता हूं, जिन्हें मैंने परम्परा से सुन रखा है॥४॥

अयश्च योगो वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ।
तथैव धर्मशास्त्रेषु दिव्यशास्त्रगणेषु च ॥५॥

यह न्यास-योग वेदों[2] तथा वेदान्त के ग्रन्थों में रहस्यरूप में तथा इसी प्रकार मनु आदि प्रणीत स्मृतियों में तथा पञ्चरात्र संहिता आदि आगमों में दिखलाया गया है। (वही अब मैं आप सभी को कह रहा हूँ)॥५॥

अनेनैव हि कर्माद्याः योगाः सिध्यन्ति योगिनाम् ।
सिद्धिर्न तद्व्यपेक्षास्य तस्मादेनं परं विदुः ॥६॥

न्यास नामक इस उत्तम योग के द्वारा ही योगिजन को कर्म, ज्ञान तथा भक्ति आदि योगों में सिद्धि मिलती है परन्तु यह योग उन कर्मादि योगों की अपेक्षा नहीं रखता है अतः (उन सभी योगों से) यह न्यास-योग ही उत्तम है, यह निश्चित है॥६॥

निश्चितेऽनन्यसाध्यस्य परत्रेष्टस्य साधने ।
अयमात्मभरन्यासः प्रपत्तिरिति चोच्यते ॥७॥

इस न्यास का स्वरूप इस प्रकार है कि इस न्यास के अतिरिक्त अन्य उपायों से साध्य फलों से (इष्टार्थ की) सिद्धि नहीं होती। अतः यह न्यास ही इष्ट फलों का

१ यहाँ प्रयुक्त उत्तम पद इस न्यासयोग को भक्तियोग से भी श्रेष्ठता दिखलाने के लिये है क्योंकि इससे परम सिद्धि की उपलब्धि होती है।

२ वेद के यज्ञादि कर्म प्रतिपादक भाग में तथा वेदान्त के ब्रह्मप्रतिपादक भाग में तथा मनुप्रणीतादि स्मृतियों में धर्मशास्त्र के भागों में भी तथा पञ्चरात्र आदि वैष्णवमान्य दिव्यआगम में भी इसी योग का संकेत रहस्यरूप में है जहाँ 'प्रपत्तिं तां प्रयुञ्जीत स्वाङ्गैः पञ्चभिरावृताम्' इत्यादि वचनों से यही बात दिखलाई गयी है।

आपादक तथा साधनभूत है तथा यही अपने इष्ट देव (परमात्मा) के प्रति स्वात्मा का न्यास या प्रपत्तिरूप है। अतः इसे 'न्यास' कहते हैं।७॥

प्रायो गुणवशादेष कृतः सर्वत्र देहिनाम् ।
सर्वेषां साधयत्येव ताँस्तानर्थानभीप्सितान् ॥८॥

अतः सत्वरज तमोगुण के पारवश्य विष्णु, ब्रह्मा तथा परमशिव आदि देवों के प्रति भी यह 'न्यास' किया जाए तो प्राणियों को इष्टअर्थों की प्रायः सिद्धि देता ही है (क्योंकि प्रपत्तिरूप अनुष्ठित न्यास का फल अवश्य होता है)॥८॥

अनन्तज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणसागरे ।
परे ब्रह्मणि लक्ष्मीशे मुख्योऽयं सर्वसिद्धिकृत् ॥९॥

परन्तु अनन्त, ज्ञान, शक्ति तथा कल्याण आदि गुणों के सागर जो परब्रह्म रूप लक्ष्मीपति श्री विष्णु है उनके प्रति मुख्यरूप में अर्थात् श्रेष्ठ पद की प्राप्ति तक के लिये यदि यह 'न्यास' किया जाए तो सम्पूर्ण सिद्धियों का प्रदाता और आपादक रहता है॥९॥

प्रशासितुरशेषाणामात्मनां परमात्मनः
न हि प्रसादनं विष्णोरन्यदात्मार्पणादृते ॥१०॥

परमात्मस्वरूप श्री विष्णु के प्रति आत्मार्पण रूप न्यास के अतिरिक्त अन्य कोई प्रसन्नता देने वाला (अन्य) साधन नहीं है क्योंकि श्री विष्णु सम्पूर्ण जीवों के नियन्ता हैं॥१०॥

अहमस्मि तवैवेति प्रपन्नाय सकृत् स्वयम् ।
देवो नारायणो श्रीमान् ददात्यभयमुत्सुकः ॥११॥

यदि इन भगवान् श्री बिष्णु के प्रति प्रपन्नभाव से एक बार भी हे प्रभो!, मैं तो आपका ही भक्त हूं, कहकर स्वयं को न्यस्त कर दे तो भगवान् श्री नारायणदेव स्वयं ही करुणावश भक्त के प्रति उत्सुक होकर उसे अभय प्रदान कर देते हैं॥११॥

आत्यन्तिकीमनिष्टानां सद्यः शान्तिमभीप्सताम् ।
प्रपत्तिरञ्जसा कार्या न त्वशुद्धमुखी क्वचित् ॥१२॥

---

१ मोक्ष के प्रयोजन से सम्पन्न न्यास का विषय तथा लक्ष्य श्रीविष्णुरूप परब्रह्म ही होते हैं, यह बात इस कारिका से दिखलाई गयी हैं, अतएव यह सभी सिद्धियों को देने वाला सर्वोत्तम उपाय है।

२ प्रपति या न्यास के अतिरिक्त शीघ्रता से मोक्ष का सम्पादक दूसरा साधन नहीं है यह सिद्धांत भी इस कारिका से उपाय निदर्शनपूर्वक कहा गया है।

जो अपने अनिष्टों की एक सद्यः शान्ति प्राप्त करने की इच्छा रखते हों तो ऐसे जनों को अपने अनिष्टभूत अविद्या, कर्म, वासना आदि से विरत होने वाले दुष्कर्मों से उत्पन्न सुखदु:खादि की सदा सर्वदा के लिये समाप्ति के लिये श्रीविष्णु के प्रति प्रपत्ति तुरन्त बिना किसी व्यवधान या विलम्ब किये (ग्रहण) कर लेना चाहिए, इसे किसी अन्य चेतना के अन्तर से दबाकर या अन्य विद्याओं के आचरण के साथ साथ नहीं करना चाहिये जिससे अनिष्ट निवृत्ति में विलम्ब हो जाए।।१२।।

प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनाः ।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् ।।१३।।

इसमें कोई अकिञ्चनजन भी परमश्रद्धा से युक्त होकर अपने कर्मों के सिद्धि की प्राप्ति की कामना करे तो वह भी श्रीकृष्ण की शरण में जाकर न्यास योग की साधना करे।।१३।।

न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः ।
न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते ।।१४।।

इस न्यासयोग की साधना में न जातिभेद, न कुल, न स्त्रीपुरुष आदि लिंग न अपने गुणों और किया आदि कार्यों का, न देश काल और अवस्था आदि का योग साधक को अपेक्षित होता है।।१४।।

ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तरजास्तथा ।
सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम् ।।१५।।

इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ तथा अन्त्यज जैसे छोटी जातियाँ के किसी भी श्र्द्धाभावयुक्त व्यक्ति को सभी प्राणियों के अधिपति अच्युत श्रीविष्णु की प्रपत्ति में प्रणत होकर 'न्यास' योग को विधिवत् प्रस्तुत कर देना चाहिए।।१५।।

प्रपत्तिं कारयन्त्येव सर्वभूतानि साधवः ।
अनपायहता सा तु तस्य तस्याशु सिद्धिदा ।।१६।।

प्रपत्ति सदैव अपायानपहतत्वरूप है अतएव इस प्रपत्ति को सभी प्राणिजन को

---

१ चेतना के अन्तर से व्यवधान होने की संभावना हो जाती है, यही प्रपत्ति की अशुद्धिमयी स्थिति है तथा इससे श्रीविष्णु की सायुज्य आदि प्राप्ति में विघ्न आकर विलम्ब हो सकता है।

२ यह प्रपत्ति या न्यासयोग जातिभेदादि की अपेक्षा नहीं करता है। यहाँ गुण पद से औदार्यादि गुण, क्रिया से योगादि क्रियाएँ, देश से पुण्यकाल तथा स्थान समझना चाहिए।

३ यहाँ अपाय शब्द पारिभाषिक है जिसका विवेचन अपायाधिकार में बतलाया जा रहा है। आशय यही है कि ये अपाय भी प्रपत्ति के स्वरूप को नष्ट नहीं कर सकते केवल उस साधक के प्राप्त होने वाले फल में विलम्ब मात्र उत्पन्न कर देते हैं।

साधुजन या विद्वान् अपने ज्ञान तथा परम्परा के अनुरूप विधिवत् करवाते हैं, क्योंकि यह प्रपत्ति यदि अनपायहृतत्वरूप में आये तो वह शीघ्र ही सिद्धि को देने वाली होती है॥१६॥

प्रपत्तिरानुकूल्यस्य सङ्कल्पोऽप्रतिकूलता ।
विश्वासो वरणं न्यासः कार्पण्यमिति षड्विधा ॥१७॥
कृतानुकूल्यसङ्कल्पः प्रातिकूल्यं विवर्जयेत् ।
विश्वासशाली कृपणः प्रार्थयन् रक्षणं प्रति ॥१८॥

इस प्रपत्ति के छः भेद बतलाने के साथ उसका स्वरूप भी दिखाने की इच्छा से कहते हैं कि अनुकूलता के हेतु सङ्कल्प के समय किसी प्रतिकूल बात का न आना ही प्रपत्ति है। यह छः प्रकार की है—सङ्कल्प, अप्रतिकूलता, विश्वास, वरण, न्यास तथा कार्पण्य। इनमें अनुकूल अनुष्ठान का संकल्प करना 'सङ्कल्प, प्रतिकूलता का परिहार करना 'अप्रातिकूल्य, इष्ट ही रक्षण करेगा, यह आस्था रखना 'विश्वास' अपनी रक्षा के लिये उपयुक्त रक्षक देवता का वरण करना 'वरण' स्वयं का इष्टदेव को निष्ठापूर्वक समर्पण 'न्यास' स्वयं को अकिश्चन भाव में हृदय से प्रस्तुत करना 'कार्पण्यम्'। इस प्रकार से यह छः प्रकार की है॥१७-१८॥

आत्मानं निक्षिपति यद् विप्रदेवस्य पादयोः ।
सा प्रपत्तिरियं सद्यः सर्वपापप्रमोचनी ॥१९॥

इस प्रकार अपने गुरु, विप्र तथा इष्टदेव श्री विष्णु आदि के चरणों में स्वयं आत्मा का समर्पण करना 'प्रपत्ति' है, यही निक्षेप होने से 'न्यास' (इसे ही शास्त्र में 'निक्षेपापर पर्यायो न्यासः इत्यादि) कह कर उसके पांच अंग भी बतलाये हैं॥१९॥

आर्तानामाशु फलदा सकृदेव कृता ह्यसौ ।
दृप्तानामपि जन्तूनां देहान्तर-निवारिणी ॥२०॥

इस प्रपत्ति का अधिकारी भेद से फल यह है कि यह 'आर्तजन को शीघ्र फल देने वाली होती है (यदि इसे एक बार भी विधिवत् सम्पन्न किया जाए) और 'अहंकाराभिभूत' प्राणियों के द्वारा इसका आचरण हो तो उनका भी शोकादि का निवारण हो जाता है॥२०॥

एषा च त्रिविधा ज्ञेया करणत्रयभेदतः ।
गुणत्रयविभेदादप्येकैका त्रिविधा पुनः ॥२१॥

करणों के भेद से इस प्रपत्ति के तीन भेद कायिकी, वाचिकी तथा मानसी रूपवाले हो जाते हैं, जो सत्त्व, रज तथा तमोगुण के भेद से प्रत्येक प्रपत्ति के होकर यह त्रिविधा

बन जाती है॥२१॥

प्रणामाङ्कनमुख्येन　न्यासलिङ्गेन　केवलम्　।
गुर्वधीना हि भवति प्रपत्तिः कायिकी क्वचित् ॥२२॥

इस प्रकार यदि सर्वप्रथम 'कायिकी' को देखे तो कहीं साष्टाङ्ग प्रणामादि रूप वाली, कहीं चक्रादि चिन्हों के अंकनरूप में धारण करने से, ऊर्ध्वपुण्ड्रादि के धारण-रूपी न्यास के चिन्ह से अपने दीक्षा देनेवाले आचार्य के अधीन कही गयी है और यह 'कायिकी-प्रपत्ति' कहलाती है॥२२॥

अविज्ञातार्थतत्वस्य　मन्त्रमीरयतः　परम्　।
गुर्वधीनस्य कस्यापि प्रपत्तिर्वाचिकी भवेत् ॥२३॥

जिसका तात्विक अर्थ विशेष रूप में अवगत नहीं होता ऐसे गुरू के अधीन रहने वाले परम मन्त्रों को उनसे पाकर उच्चारण करने वाले किसी भी गुरु के अनुशासन में स्थित रहने वाले शिष्य साधक की प्रपत्ति को 'वाचिकी' समझना चाहिए॥२३॥

न्यासलिङ्गवताङ्गेन　धियाऽर्थज्ञस्य　मन्त्रतः　।
उपासितगुरोः सम्यक् प्रपत्तिर्मानसी भवेत् ॥२४॥

न्यास-योग के (धारण) चिन्हों से मण्डित तथा अपने दीक्षा प्रदाता गुरू की विधिवत् उपासना करने वाले, मंत्रों के अर्थों के (तात्विक) ज्ञान को बुद्धि से धारण किये हुए शिष्य साधक की अनुकूल अंगादि के द्वारा की गई विशिष्ट प्रपत्ति 'मानसी' होती है॥२४॥

यदीच्छन् प्रतिकूलानि सर्वभूतानुकम्पिनम्　।
प्रपद्यते हरिं मोहात् सा प्रपत्तिस्तु तामसी ॥२५॥

मोक्ष भावना के विपरीत शत्रुवध जैसी भूतहिंसादि की आकांक्षा रखते हुए सभी भूतों पर अनुकंपा करनेवाले इष्टदेव श्री विष्णु की मोहवश जब 'प्रपत्ति' की जाए तो यह प्रपत्ति 'तामसी' होगी॥२५॥

अभीप्सन् विविधान् कामान् यदकामैकवत्सलम् ।
प्रपद्यते हृषीकेशं तामिमां राजसीं विदुः ॥२६॥

यदि ऐहिक तथा आमुष्मिक अनेक भोगों की कामना से निष्काम भाव से प्रसन्न होने वाले श्री विष्णु (ऋषीकेश-इन्द्रियों के नियामक देव) की प्रपत्ति की जाए तो यह 'राजसी' प्रपत्ति होगी॥२६॥

परित्यज्याखिलान् कामान् भक्त्यैवात्मेश्वरं हरिम् ।
प्रपद्यते दास्यरतिर्यदेषा सा तु सात्विकी ॥२७॥

यदि सभी कामनाओं का परित्याग कर भक्तिभावना से आत्माधीश्वर श्री हरि की दास्यभाव से उनके समीप एक किंकर की प्राप्ति की भावना से प्रपत्ति की जाए तो यह 'सात्विकी' प्रपत्ति होती है।।२७।।

हीना हीनतमाश्चैव रजसा तमसा कृताः ।
सत्वेन याः प्रयुज्यन्ते मुख्यास्ताः परिकीर्तिताः ।।२८।।

जो प्रपत्ति रजोगुण वाली है वह हीन तथा जो तामसभाव वाली है वह हीनतमा है, अतः इन दोनों को छोड़कर सात्विक भाव से प्रपत्ति की जाए तो यही 'सात्विक' प्रपत्ति मुख्य मानी गयी है।।२८।।

सत्वजा मानसी त्वेका तत्र मुख्यतमा मता ।
तया हि परमां सिद्धिं सद्यो यान्ति मनीषिणः ।।२९।।

सत्व मूलक प्रपत्ति की मुख्यता इसीलिये है जैसा कि पूर्व में कहा गया है परन्तु इनमें भी जो मानसी है वह सात्विक प्रपत्ति होगी। वह मुख्यतम मानी जाएगी क्योंकि इस प्रपत्ति से मनीषीगण शीघ्र ही परमसिद्धि की प्राप्ति कर लेते हैं।।२९।।

प्रणामः कीर्तनं वापि स्मरणं वापि केवलम् ।
एकैकमपि चाङ्गानां प्रपत्तिः प्राज्ञसंश्रयात् ।।३०।।
अन्वयादपि चैकस्य सम्यङ्न्यस्तात्मनो हरौ ।
सर्व एव प्रमुच्येरन् नराः पूर्वे परे तथा ।।३१।।

[1]कायिक प्रपत्ति के एकभाग प्रणाम क्रिया, वाचिक की प्रपत्ति के कीर्तन तथा मानसिक 'स्मरण' के केवल अंग को यदि विशेषज्ञ दीक्षा गुरू के अधीन रहकर किया जाए अथवा भगवत् सम्बन्धी इनमें से एक एक का सम्बन्ध रखते हुए यदि श्री हरि को स्वयं को अर्पित कर 'न्यासयोग' साधे तो इससे सभी पूर्व तथा बाद में कहे गये सभी प्रकार के साधकों को मुक्ति प्राप्त होती है।।३०-३१।।

बालमूकजडान्धाश्च पङ्गवो बधिरास्तथा ।
सदाचार्येण संदृष्टाः प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ।।३२।।

यहां तक कि सदैव अपने दीक्षाप्रदाता आचार्य की कृपा दृष्टि रहने पर उनके द्वारा प्रदत्त मन्त्रों के प्रभाव से 'न्यासयोग' में दीक्षितों के वंश में उत्पन्न होने वाले जो भी बालक, मूक, जड़ तथा अन्धे पंगु बधिर जन होंगे तो ये भी परमपद मुक्ति को प्राप्त

---

१ न्यास को दर्शानेवाले प्रणाम आदि कायिक प्रपत्ति तथा दीक्षामन्त्र के उच्चारण की क्रिया वाली वाचिक प्रपत्ति होती है। ये दोनों प्रपत्ति मुक्ति के प्रति साधकभूत मानी जाती है। 'स्मरण' मानसिक प्रपत्ति का अंग है जो अनुकूलता संकल्प जैसे विशिष्ट अंग से युक्त है। इसे किसी विशिष्ट एवं ज्ञानानुभवादि से पूर्ण आचार्य के आश्रय या निर्देशन में करना चाहिए।

कर लेंगे।।३२।।

गुरुणा योऽभिमन्येत गुरुं वा योऽभिमन्यते ।
तावुभौ परमां सिद्धिं नियमादुपगच्छतः ।।३३।।

अतः जो अपने गुरू को प्रपत्ति के साथ न्यासयोग की भावना से श्रद्धाभाव से समर्पित करे तथा जो अपने प्रपत्ति के अनुष्ठान के पूर्णतः सम्पन्न होने के बाद भी न्यासयोग की सिद्धि में उनके कारण बनने की कृपा की अतिशय कृतज्ञभाव से बुद्धि रखे तो ये दोनों ही प्रकार के साधक नियमतः परमसिद्धि की प्राप्ति कर लेते हैं।।३३।।

ज्ञानतस्त्वनुपेतस्य ब्रह्मचर्यमभीप्सतः ।
वृथैवात्मसमित्क्षेपो जायते कृष्णवर्त्मनि ।।३४।।

जो केवल पुस्तकादि के पठन से ज्ञान प्राप्त कर आचार्य के आश्रय ग्रहण करने के बिना ही प्रपत्ति का अनुष्ठान कर ब्रह्मचर्य[1] की प्राप्ति (मोक्षादि) की अभिलाषा रखते हैं तो उनका निक्षेप या न्यासयोग अग्नि में फेंक दी जाने वाली समिधाओं के दाह की तरह वृथा होता है।।३४।।

शस्त्रादिषु सुदृष्टाऽपि साङ्गा सह फलोदया ।
न प्रसीदति वै विद्या विना सदुपदेशतः ।।३५।।

अतएव जैसे भली प्रकार से शास्त्रादि के ज्ञान के साड्ग प्राप्त कर लेने पर भी बिना गुरु के उत्तम अनुभव सहित उपदेश के प्राप्त न होने पर फलोन्मुखी ब्रह्मविद्या भी ठीक से फल देनेवाली नहीं होती है।।३५।।

कामं लोकप्रमाणस्य कामाः सिध्यन्ति कामिनः ।
गृहीतसत्पदस्यैव निरपायफलोदयः ।।३६।।

प्रत्यक्षादि लोक प्रमाणों से इष्टसाधनों के प्रमाणित भाव के ग्रहण करने के बाद भी लौकिक पदार्थों से साधित हो जाने से किसी कामना करनेवाले साधक की सिद्धि हो परन्तु अलौकिक प्रमाण से सिद्ध होनेवाले मोक्षादि फल की प्राप्ति आचार्य की दीक्षा के अधीन रहने से सहज ही प्राप्त नहीं हो सकेगी। अतः ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये आचार्योपसत्ति ही अपेक्षित है।।३६।।

न्यासे वाप्यर्चने वाऽपि मन्त्रमेकान्तिनः श्रयेत् ।
अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण न परा गतिः ।।३७।।

---

१ यहाँ ब्रह्मचर्य पद का आशय है परब्रह्म की अनुभूति करते हुए उसके किङ्कर भाव या सामीप्त प्राप्ति की इच्छा करना। इस करिका की अन्य व्याख्या है कि जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो ऐसे व्यक्ति का जैसे ब्रह्मचर्य का आचरण करना वैसे ही वृथा है जैसे अग्नि में बिना विधि तथा मन्त्रों के समिधा का क्षेप या समर्पण करना।

अतएव न्यासयोग, इष्टदेव के अर्चन के लिये किसी अनन्य याजी गुरु का आश्रय या सभापतित्व को ग्रहण करें, क्योंकि अवैष्णव या अन्ययागी दीक्षाप्रद आचार्य से यदि 'न्यास' प्राप्त किये जावें तो उनसे परमपद की प्राप्तिरूप फल का मिलना कठिन होगा॥३७॥

प्रपित्सुर्मन्त्रनिरतं प्राज्ञं हितपरं शुचिम् ।
प्रशान्तं नियतं वृत्तौ भजेद् द्विजवरं गुरुम् ॥३८॥

अतएव जो इस प्रपत्तिभाव की इच्छा रखते हों तो ऐसे साधकों को सर्वदा मन्त्रानुसंधान में रत रहनेवाले तथा मन्त्र के तात्विक रहस्यों के जाननेवाले, शिष्य के प्रति हितबुद्धि रखनेवाले, शिष्य से किसी प्रकार के अर्थादि प्राप्ति से निरपेक्ष रहने वाले, पवित्रभाव से रहने वाले,प्रशान्त वृत्ति के तथा विहित-आचारों में रत ऐसे किसी श्रेष्ठ वेदज्ञ ब्राह्मण का दीक्षा के लिये आचार्यरूप में आश्रय लेना उचित है॥३८॥

सप्तपूरुषविज्ञेये सन्ततैकान्तिनिर्मले ।
कुले जातो गुणैर्युक्तो विप्रो श्रेष्ठतमो गुरुः ॥३९॥

यही गुरु यदि अपने वंश की सात पीढ़ियों का ज्ञाता या उसकी सातों पीढ़ी विद्यादि से विश्रुत रहीं हो तथा जिसका अविच्छिन्न भाव से चलनेवाला वंश एकान्तरूप में परिशुद्ध हो तो ऐसे वंश में उत्पन्न होने वाला तथा पूर्वकथित विशेषताओं से युक्त ब्राह्मण हो तो उसे श्रेष्ठतम आचार्य समझना चाहिए॥३९॥

स्वयं वा भक्तिसम्पन्नो ज्ञानवैराग्यभूषितः ।
स्वकर्मनिरतो नित्यमर्हत्याचार्यतां द्विजः ॥४०॥

इसके अतिरिक्त जो स्वयं परमेश श्रीविष्णु की भक्ति से युक्त हो तथा ज्ञान वैराग्यादि गुणों से सम्पन्न हो तो अपनी सात पीढ़ी में भक्ति ज्ञानादि से रहित पुरुषों के रहने पर भी या ऐसे पूर्ववर्णित कुल में जन्म न लेने पर भी अपने उत्तम आचरण के कारण अन्य साधकों को मन्त्रदीक्षा देने में आचार्यत्व के गुणों की अर्हता के रखने से भी गुरु होता है॥४०॥

नाचार्यः कुलजातोऽपि ज्ञानभक्त्यादिवर्जितः ।
न च हीनवयोजातिः प्रकृष्टानामनापदि ॥४१॥

यदि उत्तम सात पीढ़ियों के वंशधरों के रहने पर भी ज्ञान तथा भक्तिभाव से रहित

---

१ यहाँ गुरु या मन्त्रदीक्षादि प्रदाता आचार्य के गुण तथा विद्यादि सम्पन्नता का विवरण साधक या शिष्य के उपकार के लिये रखा गया है। इसे प्रशंसादि के रूप में अर्थवाद परक नहीं मानते हुए क्रियोपकारकत्व रूप में समझना युक्तियुक्त है।

विप्र भी हो तो वह दीक्षादाता आचार्य नहीं हो सकता है। इसी प्रकार जो कम अवस्था या आयुवाला और अपकृष्टजाति का गुणशाली भी पुरुष हो तो वह क्रमशः अपने से प्रकृष्टजाति के साधक को मन्त्रादि दीक्षा प्रदान करने वाला 'आचार्य' नहीं होगा। यदि कोई आपद्धर्म की स्थिति न हो परन्तु आपद्धर्म में ऐसी विज्ञ तथा हीन जाति भी आचार्यरूप में ली जा सकती है।।४१।।

न जातु मन्त्रदा नारी न शूद्रो नान्तरोद्भवः ।
नाभिशस्तो न पतितः कामकामोऽप्यकामिनः ।।४२।।

आपद स्थिति में हीनजाति के (द्वारा दीक्षित होने में) आचार्यत्व की अनुमति रहने पर भी कोई स्त्री मन्त्र की देनेवाली नहीं रखनी चाहिए और न ही कोई प्रतिलोमजाति में ।उत्पन्न शुद्र ही मन्त्रदाता होता है। इसी प्रकार जो महापातकी या पतित हो तो उसे भी मन्त्रदाता आचार्य नहीं रखते हैं तथा जो सांसारिक कामनाओं से रहित हों तो उसे भी मन्त्रदाता नहीं रखा जावे।।४२।।

स्त्रियः शूद्रादयश्चैव बोधयेयुर्हिताहितम् ।
यथार्हं माननीयाश्च नार्हन्त्याचार्यतां क्वचित् ।।४३।।

स्त्री तथा शूद्रादि हिताहित की सलाह दे सकते हैं तथा वे अपनी स्थिति के अनुरूप सम्मान के भी अधिकारी होते हैं परन्तु उन्हें मन्त्रदाता आचार्य के रूप में नहीं रखा जा सकता है।।४३।।

किमप्यत्राभिजायन्ते योगिनः सर्वयोनिषु ।
प्रत्यक्षितात्मनाथानां नैषां चिन्त्यं कुलादिकम् ।।४४।।

इस संसार में योगीजन अनेक निकृष्ट तथा उत्तम योनि तथा जातियों में जन्म ले लेते हैं अतः जिसने अपनी साधनाओं के कारण भगवत्-तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त कर लिया हो ऐसे योगीजन के लिये कुलादि का विचार नहीं माना जाता है। अतः ऐसे किसी भी योगी से मन्त्रदीक्षा लेना निषिद्ध नहीं है।।४४।।

विश्वात्मन्यात्मनो न्यासं धिया वृत्तिश्च शाश्वतीतम् ।
मन्त्रेणोच्चारयेद् यस्तु स आचार्यः परो मतः ।।४५।।

जो विहित आचार दृष्टि तथा भक्ति के तात्विक भावों से युक्त मन्त्र का उच्चारण कर उपकारातिशय के भाव के कारण सभी के अन्तर्यामी भगवान् में अपने शिष्यको प्रपत्ति के रूप में न्यास-योग का सम्पादन करवाता हो तथा अपने ज्ञान से जो शाश्वती-वृत्ति को मन्त्रों के द्वारा कहलवाता हो तो उसे परम या उत्तम आचार्य माना जाता है।।४५।।

शान्तोऽनसूयुः श्रद्धावान् गुर्वर्थार्थात्मवृत्तिकः ।
शुचिः प्रियहितो दान्तः शिष्यश्चोक्तो मनीषिभिः ॥४६॥

विद्वान ऐसे गुणवाले को जो कि शान्त प्रकृतिवाला, किसी से भी असूया न रखनेवाला, अर्थराशि तथा अपने कार्यों को जो आपने गुरुजन के लिये करने में उद्यत हो (अपनी वृत्ति भी गुरू के हित में चलाने वाला हो) शुद्ध वृत्ति तथा आचरणशील, अपने आचार्य के प्रिय तथा हित में तल्लीन रहनेवाला तथा अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाला, अतिशय आसंग से हीन जो रहता हो उसे 'शिष्य' समझना चाहिए तथा जो उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण करने में समर्थ बुद्धिवाला या दक्ष हो॥४६॥

न मत्तोन्मत्तपतिताभिशस्तक्रूरनास्तिकाः ।
नानर्थिनो न चाज्ञाताः कर्तव्याः मन्त्रगामिनः ॥४७॥

अतएव जो मत्त या उन्मत्त प्रकृति के हो, जो पतित हों, जो अभिशस्त क्रूर तथा नास्तिक हो, जो अर्थ के बोध में असमर्थ हों तथा जिनका कुलादि परिचय न हो तो ऐसे शिष्यों को न्यास का मन्त्रोपदेश नहीं दिया जावे॥४७॥

स्त्रीणाञ्च पतिमित्रादीननतिक्रम्य सत्तमान् ।
अनुज्ञया वाप्यन्येभ्यः स्मृतो मन्त्रपरिग्रहः ॥४८॥

स्त्रियों के पति, मित्र, पिता तथा श्वसुर जैसे सम्बन्धियों तथा श्रेष्ठ विद्याओं से युक्त जन को न छोड़कर अथवा अन्यों से भी अपने पूज्यजन से अनुमति लेकर मन्त्रग्रहण किया जा सकता है (पति, पिता तथा अन्य सम्मान्य पुरुष हों तो उनसे भी अनुज्ञा लेकर मन्त्र ग्रहण किया जा सकता है)॥४८॥

वैदिकास्तान्त्रिकाश्चैव यथार्था[1] लौकिकास्तथा ।
प्रपत्तौ विहिता मन्त्रास्तत्र तत्र व्यवस्थया ॥४९॥

इस न्यास विधि में प्रपत्ति के लिये वैदिक, तान्त्रिक, उन मन्त्रों के अर्थवाले लौकिक भाषा वाले मन्त्रों को भी विहित माना गया है। ये मन्त्र यथेष्ट दिये जा सकते हैं तथा ये आचार्य के अधिकारी भेद की व्यवस्था के अनुगत होते हैं॥४९॥

न्यासिनो न्यास एव स्यान्निष्ठा तत्पूर्विकाः क्रियाः ।
व्यापकैर्नैष्ठिकैर्वान्यैः कुर्यात् तेऽप्यर्पणे मताः ॥५०॥

---

१ कारिका में प्रयुक्त यथार्थ पद का आशय है कि ऐसे मन्त्र जो वैदिक तथा तन्त्रशास्त्र के मन्त्रों के समान शब्द या अर्थवाले हों तो वे यथार्थ मन्त्र होते हैं। यहाँ व्यवस्था यही है कि आचार्य त्रैवर्णिक शिष्यों को उनकी सामर्थ्य के तथा बुद्धि के अनुरूप वैदिक मन्त्र तथा तन्त्रादि आगमों से प्राप्त मन्त्र की दीक्षा दे सकते हैं। इसी प्रकार अत्रैवर्णिक अशूद्रादि को भी आगमिक मन्त्र, प्रतिलोमज जाति के शिष्य को वैदिकादि के समानार्थक उपयुक्त मन्त्र को तथा लौकिक भाषा के मन्त्रों को दिया जा सकता है।

जिसे आचार्य न्यास विधि में प्रपत्ति प्रतिपादक मन्त्र देवें उसे उसमें निष्ठा रखना चाहिए तथा वह उसी का नित्य जपादि करे। अर्चनादि किया भी उसी मन्त्र को ध्यान में रखते हुए रखे। अथवा यह कार्य व्यापकों अर्थात् आम्नात मन्त्रों के तथा नैष्ठिक मन्त्रों के जो दीक्षा प्राप्त मन्त्र रत्न से भिन्न हो तो उनसे भी किया जा सकता है। ये मन्त्र भी न्यास या प्रपत्ति में मान्य होते हैं। क्योंकि ऐसे मन्त्र भी 'नमः' आदिशब्दों से युक्त रहने से इनसे भी प्रपत्ति की स्थिति या प्रतिपादकता बनती ही है॥५०॥

करेण स्पर्शयन् गात्रं मन्त्रविद् भावयेद् दृशा ।
एषा वा सर्ववर्णानां दीक्षेत्याह मुनिः स्वयम् ॥५१॥

मन्त्र-विधाता आचार्य अपने हाथ से शिष्य के शरीर का स्पर्श करते हुए तथा उसे (अपनी दृष्टि से) देखते हुए दीक्षा मन्त्र प्रदान करें। सभी वर्णों को दी जाने वाली दीक्षा का यही मान्य सिद्धान्त है। जो भारद्वाज मुनि ने स्वयं कहा है॥५१॥

यां सिद्धिं वैष्णवैर्मन्त्रैराधत्ते वैष्णवो गुरुः ।
सर्ववेदधरोऽप्यन्यो नान्यैः कुर्वीत् तादृशीम् ॥५२॥

मन्त्रदीक्षा-प्रदाता आचार्य जिन वैष्णव मन्त्रों से जितनी सिद्धि प्राप्त किये रहता है वह सभी वेदों के ज्ञाता भी अन्य गुरू दूसरे अवैष्णव मन्त्रों से वैसी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है॥५२॥

वैदिकास्तान्त्रिकाश्चैव द्वये मुख्या द्विजन्मनाम् ।
शूद्रानुलोमजातीनां मन्त्राः स्युस्तान्त्रिकाः परम् ॥५३॥
भाषाख्या लौकिका मन्त्राः प्रपत्यर्थविभावनाः ।
सर्वेभ्यः प्रतिलोमेभ्यो देयाः कामं द्विजातिभिः ॥५४॥

द्विजों में दो प्रकार के साधक मुख्य होते हैं-जिनमें एक वैदिक तथा दूसरे तान्त्रिक (आगमिक) हैं। इनमें जो शूद्र वर्ण तथा अनुलोम-जातियों में उत्पन्न जन हैं उनके हितकर (तथा उनसे साध्य) तान्त्रिक-मन्त्र (होते) हैं। ये लौकिक-भाषाओं में (भाषाओं में) भी प्राप्त होते हैं जो लौकिक मन्त्र के रूप में प्रपत्ति के भावों को दिखलाने वाले होते हैं । ऐसे उपयोगी मन्त्रों को भी ब्राह्मण आचार्यों[१] तथा दीक्षा गुरुओं के द्वारा ही सभी शूद्र तथा प्रतिलोम जाति के भक्त शिष्यों को दीक्षापूर्वक यथेष्ट रूप में ग्रहण करना चाहिए॥५३-५४॥

---

१ सभी प्रकार के मन्त्रों को शिष्य की क्षमता आदि का विचार कर दीक्षादाता आचार्य के द्वारा प्रदान किया जाए तथा ब्राह्मण आचार्य ही भाषा के मन्त्रों को भी दीक्षा के साथ प्रदान करे।

मन्त्रं नियतमग्र्याणां सो हीनाय प्रयच्छति ।
स वै हीनगुरुर्निन्द्यस्तेन सार्द्धं पतत्यधः ॥५५॥

अग्रजात त्रैवर्णिक द्विजों के लिये शास्त्रों में मान्य तथा नियत वैदिक मन्त्रों को जो हीन या शूद्रादिवर्णों को दीक्षा प्रदान करते हुए देते हैं वे हीन गुरु होकर निन्दनीय स्थिति को प्राप्त कर साधक शिष्य के साथ ही नरक में जाते हैं। (अतः शूद्रादि जातियों को तान्त्रिक मन्त्र ही साधना के लिये उपयुक्त हैं।)॥५५॥

तदेवं स्वोचितैरेव मन्त्रैर्मन्त्रविदाश्रयाः ।
श्रयेयुः शरणं सर्वे सर्वभूतेश्वरं हरिम् ॥५६॥

अतएव मन्त्रवेत्ता गुरु का आश्रय लेकर अपने लिये नियत मन्त्रों को ग्रहण करते हुए सभी प्राणियों के अधिपति श्री[1] विष्णु की प्रपत्ति के द्वारा उनकी धारणा प्राप्त करना चाहिए।।५६॥

पुण्येऽनुकूले समये देशे भागवते शुभे ।
निमज्ज्य नियतस्तीर्थे प्रणिपत्याश्रयेद् गुरुम् ॥५७॥

इसकी दीक्षा लेने वाला साधक भक्त किसी उत्तम अनुकूल तथा पुण्यशाली दिवस या तिथि को तथा शुभदाता भागवत तीर्थ या प्रदेश में संयमित मन के साथ सर्वप्रथम पवित्र भाव से नियत तीर्थ में स्नान करें तथा फिर गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर उन्हें आचारानुरूप प्रणाम करें॥५७॥

आचार्यश्चोपसन्नाय भक्त्याभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
गुरून् प्रणम्य मन्त्रेण प्रपत्तिं प्रतिपादयेत् ॥५८॥

तब दीक्षा प्रदान करने के पूर्व मन्त्रदाता आचार्य उस शिष्य के शरण आने पर अपने इष्टदेव श्रीमहाविष्णु का सर्वप्रथम पूजन करें तथा बाद में अपने पूज्य गुरु को प्रणाम कर गुरुपरम्परा पूर्वक मन्त्र को उस समीपवर्ती शिष्य को मन्त्र दीक्षा देकर 'प्रपत्ति' या न्यास योग को सम्पादित करें॥५८॥

अथ स्त्रीशूद्रसङ्कीर्णानिर्मला पतितादिषु ।
अनन्येनान्यदृष्टौ च कृतापि न कृता भवेत् ॥५९॥

और जो स्त्री, शूद्र तथा अनुलोम प्रतिलोम जातियां (संकीर्ण) हैं, जो आचार्य के आश्रय-ग्रहण से हीन है तथा जो महापातकादि से युक्त हैं वे यदि केवल शास्त्रमात्र से सम्पादित ज्ञानवाले किसी भी आचार्य को गुरु के रूप में प्राप्त कर उनसे न्यास या प्रपत्तिकी

---

१ यहाँ कारिका में प्रयुक्त 'सर्वभूतेश्वर' पद का आशय है कि श्रीविष्णु सभी प्राणियों के शरण दाता हैं अतः सभी उनकी प्रपत्ति का अधिकार रखते हैं।

दीक्षा लेते हैं तो उनकी यह प्रपत्ति इस प्रकार होने पर भी न किये के समान निष्फल है (अतः किसी पाञ्चरात्र आगम के वेत्ता तथा पारम्परिक विद्वान् को ही आचार्य मानकर उनके द्वारा ही मन्त्र से दीक्षित होना उत्तम है)॥५९॥

अतोऽन्यत्राशु विधिवत् कर्तव्या शरणागतिः ।
उपदेष्टा तु मन्त्रस्य मूढः प्रच्यवते ह्यधः ॥६०॥

अतएव स्त्री, शूद्रादि से भिन्न आचार्य के प्राप्त होने पर ही उनके द्वारा ही विधिवत् श्री हरि की शरणागति की दीक्षारूप प्रपत्ति से न्यासयोग को मन्त्रउपदेशपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। मन्त्रों के स्त्रीशूद्रादि को उपदेश करते रहने पर आचार्य भी मूढ़ होकर पतन को प्राप्त करते हैं।[1]॥६०॥

अनादेर्वासनायोगाद् विपरीतादिहात्मनः ।
स्मृतिर्न जायते विष्णौ कुत एवार्पणे मतिः ॥६१॥

और जो अनादिदुर्वासिनाओं से कलुषित अन्तरात्मावाले हैं उनमें स्थित अनादि वासनाओं के कारण आत्मस्थभाव से विपरीतस्थिति बन जाने से उनमें स्वयं में श्रीविष्णु को समर्पित करने की शरणागति भाव की स्मृति तक नहीं आती हो तो फिर उनको 'न्यास' की भावना कहाँ से आ सकती है॥६१॥

स्वपापसम्भवादेव कुलात् संसर्गतो ऽन्यतः ।
देशात् कालात् स्वभावाच्च प्रपद्यन्ते न केशवम् ॥६२॥

वे अपने पापों के उदय के बने रहने के कारण तथा कुल तथा अन्य निषिद्ध कर्मों तथा उनके कर्ताजन के संसर्ग में रहने के कारण, दूसरे भगवद्विमुख जन से युक्त रहने के कारण, देश, काल तथा स्वभाव के वातावरण में स्थित होकर श्रीमद्विष्णु की शरण प्राप्त करने के अवसरों से स्वतः ही वञ्चित रहते हैं॥६२॥

अविज्ञाय सदा शुद्धं नराः नारायणं प्रभुम् ।
अशुद्धानामहो ऽन्येषां दास्यमिच्छन्त्यबुद्धयः ॥६३॥

ऐसे नर स्वतः की पापमूलक दुर्बुद्धि के कारण शुद्ध-स्वरूप वाले श्रीनारायण को ठीक से न जानकर अन्य इष्ट देवता की शरण ग्रहण करने लगते है और वे अपनी अल्पबुद्धि के कारण कार्यवश राजस तथा तामस गुणों के अधिपति ब्रह्मादि अन्य देवगणों की शरण या उपासना की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं॥६३॥

केचित् सर्वेश्वरं विष्णुमशेषदुरितापहम् ।
कामकामाः प्रपद्यन्ते न ते दास्यं परं विदुः ॥६४॥

---

१ यहाँ 'मूढ़ः प्रच्यवते ऽधमः' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है कि अधम या शूद्र अपनी अहंबुद्धि से यदि मन्त्र का उपदेश देता है तो उसका पतन हो जाता है।

इनमें से कुछ तो समस्त दुरित के अपहर्त्ता, सभी के प्रभु श्री विष्णु की शरण में किसी कामनाके अभिभूत होकर जाते हैं। ऐसे जन भी श्री विष्णु का दास्यभाव या भक्त की स्थिति प्राप्त नहीं करते हैं[1]।।६४।।

बहुजन्मकृतैः पुण्यैरात्मनः क्षीणकल्मषाः ।
हरिं सन्तः प्रपद्यन्ते तद्दास्यैकफलार्थिनः ।।६५।।

किन्तु अनेक जन्मों में पुण्य का आचरण करने के कारण उनसे अपने कल्मष या पापों को दूर कर लेने वाले सन्तजन[2] ही उन श्रीविष्णुरूप के दास्यभाव की फलरूप में इच्छा रखने पर उन्हें प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे उनके परब्रह्मरूप से अभिज्ञ हो जाते हैं।।६५।।

कृतिनां वीतमोहानां केशवे निहितात्मनाम् ।
स्वदते केवलं दास्यं स्वधर्मकरणादिकम् ।।६६।।

परन्तु श्री विष्णु में अपनी आत्मा को निहित या समर्पित करने वाले तथा विगत-मोहादि-भाव वाले (अर्थपञ्चक विषयक अज्ञान से रहित) तथा अपने नियत धर्मों का आचरण करनेपर पवित्रभाव के कारण वे श्रीविष्णु के दास्यभाव का फलास्वादन करने में समर्थ होते हैं।।६६।।

वासुदेवं प्रपन्नानां तद्दास्यैकरसात्मनाम् ।
भेदो वीतभयानां हि नात्र कश्चित् परत्र वा ।।६७।।

अतएव जब अपने नियत धर्मों में स्थित रहने वाले होकर जो श्री वासुदेव की प्रपन्नता या शंरणरूप समर्पण भाव को रखते हैं, जिसमें उनकी दास्यभावना की प्राप्ति के कारण आत्मानन्द का अनुभव हो जाता है तो ऐसे वीतभय[3] या कहीं से प्राप्त किसी भी भय से मुक्त होकर इस लोक तथा परलोक में भेद भावना से रहित हो जाते हैं तथा प्रायः मुक्तिभाव की प्राप्ति करने वाले होते हैं।।६७।।

इह श्रुत्यादिनियता वृत्तिरेव स्वयं फलम् ।
परत्र च परेशस्य कामात् कामप्रवृत्तयः ।।६८।।

ऐसे धर्मनिष्ठजन को इस लोक में श्रुति आदि से विहित वृत्ति वाली जीविका

---

१ अर्थात् जिन श्रीविष्णु की समस्त पातकों के नाश करने की सामर्थ्य है उनकी क्षुद्र लौकिक अपेक्षावाली कामनाओं के वशीभूत होकर शरण ग्रहण करनेवाले एकान्तीभाव या उनके दास्य या प्रपत्ति के न्यासयोग को प्राप्त करने का अधिकार नहीं रखते है।

२ कारिका में स्थित 'सन्त' पद का अर्थ है परमेश्वर श्रीविष्णु के स्वरूप से परिचितजन। 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' से जिनका स्वरूप श्रुति भी बतलाती है।

३ वीतभय–जिसे कहीं से भय न आवे। यहाँ भी 'न विभेति कुतश्चन' इस वचन को ध्यान में रखकर यह कहा गया है जो श्रुति अनुमोदित है।

(उन्हें) मिल जाना ही पूर्वपुण्यों का फल होता है तथा उस लोक में भी परेश श्रीविष्णु की कामना के संकल्प रहने से स्वच्छन्दरूप में उन्हें श्रीभगवद्विष्णु के प्रसाद से[1] स्वाभिमत मोक्ष की (उनके किंकर भाव से युक्त) प्राप्ति भी हो जाती है।।६८।।

निक्षिप्यात्मानमात्मीयमशेषमखिलात्मनि ।
क्रियाश्च सकलास्तत्र वर्तन्ते वीतकल्मषाः ।।६९।।
मन्यते च स्वकीयान्नः स्वप्रीत्यै स्वोचितां स्वयम् ।
नाथः स्वकीयसेवां तां वृत्तिं कारयतीति वै ।।७०।।

जो अखिलभुवनों के अधिपति श्रीभगवान् विष्णु में स्वय की आत्मा को अर्पित या स्थापित कर भगवदनुसन्धान में अपना [illegible]मय बिताते हैं तथा सभी क्रियाएं भी भगवदर्पित कर देते हैं वे निष्पाप होकर ऐसे किसी भी वस्तु पर अपना अधिपत्य नहीं मानते तथा अपनी प्रीति के लिये किसी अन्य देव को अपने अर्चन के योग्य नहीं मानते हैं किन्तु ईश सेवा के आचरण में लगी हुई वृत्ति या जीविका को भी परमेश्वर के द्वारा करवाने वाली क्रिया के रूप में जो मानता है वह प्रपन्न या शरणागत भक्त "व्यासयोग" वाला है तथा उसे ही श्रीविष्णु का दास्यभाव प्राप्त रहता है।।६९-७०।।

(प्रपत्यधिकार समाप्त)

यथा प्रपत्तिर्विहिता भगवच्चरणाब्जयोः ।
तथैव तत्र वृत्तिश्च कार्या गुरुनिदेशतः ।।७१।।

उपासक या भक्त की वृत्ति की आगे व्याख्या करते हैं, जब उसने अपने मन तथा बुद्धि के द्वारा जिस शाश्वत वर्णानुक्रमागत वृत्ति को प्राप्त किया तथा भगवान् श्री विष्णु के चरणों में प्रपत्ति या न्यासदीक्षा प्राप्त कर ली हो तो उसे गुरु के निर्देश से उसी 'वृत्ति' का आचरण तथा तदनुरूप अर्चनादि अनुष्ठान करना चाहिये।।७१।।

वृत्तिश्च विहिताचारः प्रतिषिद्धविवर्जनम् ।
दृष्टिर्भक्तिस्तथा लक्ष्म सतां सेवेति षड्विधा ।।७२।।

यह वृत्ति छः प्रकार की है यथा - १ विहित कर्मों का आचरण करना, २-प्रतिषिद्ध कर्म हिंसादि का निषेध या आचरण न करना, ३-अपने इष्ट की ओर दृष्टि या

---

१ यहाँ शास्त्र के अनुसार कथन का आशय यह है कि श्रीहरि के किङ्कर भाव में स्थित रहने या उस स्थिति का अनुभव करनेवाले मुमुक्षुजन तथा उसका फल प्राप्त करने वाले मुक्तजन में स्थितिभेद हट जाता है।

उसका ज्ञान तथा ४-उसी की भक्ति ५-उसी इष्टदेव भगवान् श्री विष्णु के शंखादि चिन्ह (लाञ्छनादि) का धारण करना तथा ६-सन्तों की या पूज्य आचार्यों की सेवा करना।।७२।।

अनन्यरतिरत्यन्तं विहितानि समाचरन् ।
वर्जयन् प्रतिषिद्धानि वेदवेदान्ततत्ववित् ।।७३।।

अपने इष्ट के प्रति अनन्य या अत्यन्त निष्ठा या भक्ति रखना तथा इष्ट देव के अतिरिक्त अन्यों के प्रति निवर्तन का भाव रखना ही दृष्टि या 'ज्ञान' है। यही उस वेद और वेदान्त के तत्ववेत्ता के द्वारा किया जाए और इसी प्रकार की वृत्ति वह रखे।।७३।।

अर्चादिष्वचर्यन् विष्णुमङ्कितो हरिलाञ्छनैः ।
सेवते यद् गुरून् भक्त्या सेयं वृत्तिः परा मता ।।७४।।

इस वृत्ति में स्थित रहते हुए इष्टदेव श्रीविष्णु की अर्चनादि के द्वारा पूजन करते हुए तथा अपने शरीर को श्रीहरि के लांछनों से अंकित रखकर वह जब पूज्य गुरुजन की भक्तिपूर्वक सेवा करता है तो यह श्रेष्ठ वृत्ति मानी गयी है।।७४।।

स्वाभाविकोऽस्य सम्बन्धः पुंसो यः परमात्मना ।
तस्यैव बोधो न्यासाख्यः प्रथमं यात्युपायताम् ।।७५।।

इस प्रकार इस उपासक या भक्त (जीव) का परमेश्वर श्रीविष्णु के साथ जो स्वाभाविक भाव से स्वामी तथा सेवकरूप में जो सम्बन्ध हो जाता है इसका बोध रहना ही 'न्यास' (नामक रूप) होकर प्राथमिकरूप से श्रीभगवान् की अनुग्रह प्राप्ति में साधनभूत उपाय बनता है।।७५।।

स एवोपर्युपर्यस्य परां प्रीतिमुपावहन् ।
वृत्याख्यां फलतां याति तदेवामृतमुच्यते ।।७६।।

यही सम्बन्ध धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए श्री भगवान् की परम प्रीति को उत्पन्न करते हुए वृत्तिरूप फल का आकार धारणकर लेता है जो 'अमृत रूप'[१] कहा जाता है (अर्थात् इस वृत्ति का फल ही 'अमृतत्व' है)।।७६।।

या स्वधर्मेष्वभिरतिः सा भवत्यनुकूलता ।
वर्जनं प्रतिषिद्धानां तथैषा प्रतिकूलता ।।७७।।

---

१ अमृतरूप अर्थात् मोक्ष जो कि वृत्ति का फल है। इसमें जीव परमात्म सम्बन्ध का ज्ञान प्रथम उपाय तथा बाद में वृत्ति के फलरूप मोक्ष की स्वरूप प्राप्ति होती है क्योंकि मोक्ष के स्वरूप का आविर्भूत होना मोक्ष माना गया है।

वेद-वेदान्त-विज्ञानं विश्वासो गोप्तरि स्वयम् ।
गोप्तृत्ववरणादन्यन्न विष्णोरर्चनादिकम् ॥७८॥
प्रपत्तेहर्चात्मनि क्षेपो दास्यचिन्हैकलक्षणः ।
सतां देशिकमुख्यानां सेवा कार्पण्यमुच्यते ॥७९॥

[१]अपने धर्म में जो विहित आचरण के कारण अभिरति का हो जाना है वही प्रपत्ति में अनुकूलता की प्राप्त करता है और यही प्रतिषिद्ध कर्मों के प्रति वर्जन या निषेधभाव को प्राप्त कर ऐसे कर्मों से प्रतिकूलता भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आगे इसी वृत्ति से वेद तथा वेदान्त के विशेष ज्ञान में यह वृत्ति प्रविष्ट होकर ज्ञान प्राप्त कर लेती है जो स्वयं अपने संरक्षक इष्टदेव के द्वारा रक्षा की भावना को उत्पन्न कर विश्वास को उत्पन्न कर देती है तथा इस प्रकार अपने इष्टदेव श्रीभगवद्विष्णु को संरक्षण के रूप में वरण से अन्य कार्य बन जाता है (क्योंकि यही 'भक्ति' बन जाती है) तब इस कार्य के द्वारा अपने आत्मा को प्रपन्नभाव से इष्ट के प्रति अर्पण करने पर 'न्यासयोग' सम्पन्न हो जाता है। जिसमें इष्ट की दास्यता के चिह्नों का धारण करना एक लक्षण होकर यही वृत्ति आगे अपने उपदेश या मन्त्र-प्रदाता मुख्य गुरु (देशिक मुख्य आचार्य) की सेवा वृत्ति के भाव से प्रपत्ति की करुणामयी स्थिति में जाकर अवस्थित हो जाती है॥७७-७९॥

अतः प्रपत्तिरेवेह वृत्तिर्भवति शाश्वती ।
तस्यैवास्मीति बोधात्मा प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥८०॥

अतएव प्रपत्तिभाव को ही शाश्वत स्थितिवाली 'वृत्ति' समझना चाहिए (या यही शाश्वत 'वृत्ति' कहलाती है) इसी का 'अस्मीति' भाव में होने वाला विबोध होता है। अतः प्रपत्ति ही शाश्वत वृत्ति है॥८०॥

तदेवं भगवान् प्रीतः प्रपत्या साधनं परम् ।
तयैव वृत्तिवपुषा प्रीतः फलमपि स्वयम् ॥८१॥

इस प्रकार इस प्रपत्ति के द्वारा प्रीत श्रीमद्भगवान् ही फलरूप या प्राप्तव्य होकर फल भी हो जाते हैं। जिसमें पर-साधन है प्रपत्ति तथा इसी प्रपत्तिवृत्ति से प्रसन्न हो जाने वाले श्रीविष्णु ही तब स्वयं फलरूप हो जाते हैं॥८१॥

---

१ यहाँ 'या स्वधर्मेषु' इत्यादि से मुनि ने प्रपत्ति तथा वृत्ति की समभेद रूप दशा दिखलाई है।

२ यहाँ प्रपत्ति के उपायोपेयभाव का श्रीभगवदुपायोपेय भाव निबन्धन रूप रहने के कारण श्रीभगवद् का ही साक्षात् उपायोपेयभाव है यह तथ्य स्पष्ट होता है।

विहिन्तान्तर्गतान्येव दृष्टयादीनि तथापि तु ।
तेषां विशेषमान्यत्वात् पृथक् चाङ्गतया विधिः ॥८२॥

वृत्ति आदि से होने वाले ज्ञान या 'दृष्टि' आदि यद्यपि विहितकर्मों के अन्तर्गत ही है फिर भी इनकी विशेषरूप में मान्यता रहने के कारण इनकी अंगरूप विधि पार्थक्य रूप में स्थित मानी गई है॥८२॥

निषिद्धान्तर्गतान्येव विरुद्धान्यखिलान्यपि ।
हानं सर्वस्य चैकाङ्गं पृथग्व्याचक्षते परे ॥८३॥

इस प्रकार दृष्टि, लक्ष्म या चिह्नधारणादि तथा सत्सेवा जैसे कर्मों के आचरण के विपरीत रहनेवाले सभी कार्य विरुद्ध होने के कारण निषिद्ध कर्मों के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः ये सभी वर्ज्य है तथा इनकी प्रत्येक अंगके रूपमें पृथक् से आगे व्याख्या की गयी है[1]॥८३॥

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पात् प्रातिकूल्यस्य वर्जनात् ।
प्राप्ते समस्तेऽपि तथा विश्वासादेः पृथग्विधिः ॥८४॥

इस प्रकार अनुकूल संकल्प को लेने के तथा प्रतिकूल आचारादि के निषेध के कारण समस्त विश्वासादि के सिद्ध हो जाने पर भी जैसे इन विश्वासादि की पृथक्रूप में विधि होती है, इसी प्रकार यहां समझना चाहिए॥८४॥

न कर्म हीनं ज्ञानेन न तत्तेन न ते अपि ।
भक्त्या ताभ्यां न सां तानि न वैराग्येण तन्न तैः ॥८५॥

क्योंकि ज्ञान की दृष्टि से रहित कर्म विहित नहीं होता है तथा यह ज्ञान भी कर्म से हीन या उसके बिना नहीं रहता और ये कर्म तथा ज्ञान दोनों ही भक्ति के बिना श्रीभगवान् की प्राप्ति में हेतु नहीं हो सकते हैं। ये कर्मादि भी वैराग्य के बिना नहीं और इन भक्त्यादि से रहित या प्रतिकूल निषेधादि भी भगवन् की प्रीति में हेतु नहीं बन सकते हैं॥८५॥

विहिताचरणं कर्म वैराग्यं निन्द्यवर्जनम् ।
ज्ञानं सुदृष्टिर्भक्तिस्तु हरिचिह्नसमाश्रया ॥८६॥

विहित आचार में स्थित रहना 'कर्म' है तथा निन्द्य या निषिद्ध कर्मों का परिवर्जन ही 'वैराग्य' कहलाता है। सम्यक् 'दृष्टि' है इष्ट का ध्रुव ज्ञान तथा यही हरि के

---

१ इस पंक्ति का आशय है कि जैसे विहिताचार के अन्तर्गत दृष्टि आदि की पृथक् अगरूप में विधि रखी जाती है इसी तरह प्रतिबिद्ध के वर्जन के अन्तर्गत दृष्टयादि के विरुद्ध वर्ज्य या हानि की पृथक् अंगके रूपमें स्थिति होगी। इस व्याख्या के कारण वृत्ति की षड्विधता के साथ एक अंग की और वृद्धि होती है।

चिन्हों का आश्रय लेकर रहने वाली 'भक्ति' कहलाती हैं॥८६॥

एवं चतुर्विधामेनां प्रीतिरूपां हरेः स्वयम् ।
यो वृत्तिमवमन्येत न हि तस्याऽस्ति निष्कृतिः ॥८७॥

इस प्रकार इस चार प्रभेदों वाली तथा श्रीहरि के प्रीतिभाव रखने वाले साधकभक्त की इन चारों वृत्तियों यथा–१ विहिताचार, २ दृष्टि, ३ भक्ति तथा ४ विरुद्धाचाररूप वर्जनात्मक वैराग्यरूप की जो अवमानना करता हैं उसका कोई भी प्रायश्चित नहीं हैं (अर्थात् वह महापातकी हैं)॥८७॥

न देवतान्तरपरा न च कस्यापि साधनम् ।
परं प्रसाद एवैषा वृत्तिर्विश्वात्मनो हरेः ॥८८॥

विश्वात्मा श्रीहरि की यह 'वृत्ति' परमप्रसाद स्वरूप ही समझना चाहिए क्योंकि इसमें न तो किसी अन्य देवता से सम्बन्ध हैं और न ही ये किसी काम्यकर्म में साधनरूप हैं क्योंकि ये तो केवल भगवत् प्रसन्नता की कारणीभूत स्थितिवाली होती हैं॥८८॥

देहस्यान्तिकलये मोक्षाख्ये सति सा पुनः ।
निःश्रेयसं परं ब्रह्म निर्वाणमिति चोच्यते ॥८९॥

भौतिक शरीर की आत्यनिक लीनभाव की दशा वाली मोक्ष नामक स्थिति के प्राप्त हो जाने पर तब यही वृत्ति निरवधि श्रेयोरूप परब्रह्म विषयक बनकर 'निर्वाण' कहलाती हैं॥८९॥

प्रपन्नस्यापि हि पुनर्देहे कर्मकृते स्थिते ।
दुरितानि परां वृत्तिं दूषयन्ति मुहुर्बलात् ॥९०॥
तानि सर्वाण्यशेषाणि पापानि प्रशमं नयेत् ।
पुनः प्रपदनेनाशु कर्मभिर्वापि तत्परैः ॥९१॥

न्यासयोग में साधक के प्रपत्ति भाव में स्थित रहने पर तथा कर्मों के परिणामवश देह के विद्यमान रहने पर प्रपत्ति के सामर्थ्य से यह वृत्ति परम दूषणों का भी विनाश कर देती हैं (पातक इन परम वृत्तियों को दूषित कर देते हैं क्योंकि दूषणों का ऐसा सामर्थ्य होता है)। तब यही फिर से श्री विष्णु के प्रति प्रपत्तिपरक

---

१ मुक्ति की दशा में भी कैङ्कर्य के पुरुषार्थरूप कारण से वृत्ति की भी कैङ्कर्य रूप स्थिति होती है इसलिये पुरुषार्थभूत तथा स्वाधीन इस वृत्ति के विषय में सदा सन्नद्धभाव रखना आवश्यक है। क्योंकि यही निरवधिश्रेय को मुक्तिरूप में परिणत करवाती है तथा निरवधिदुरितबन्धन की निवृत्ति करने के अनन्तर भी मोक्षरूप में फलती है अतः मोक्षफलरूपा यह वृत्ति अवधान के योग्य केन्द्रीभूत महत्व रखती है।

(भगवत्परक्) कर्मों के द्वारा उन सभी पातकों को (वह वृत्ति) क्षीण या नष्ट कर देती है तथा पातकों को शान्त कर देती है॥९०-९१॥

एकान्ती शक्तितः कुर्वन् विहितानि समुत्सुकः ।
तथैव प्रतिषिद्धानि त्यक्त्वा याति परां गतिम् ॥९२॥

अतएव इष्ट के प्रति उत्सुकभाव रखते हुए साधक या मन्त्र एकांत की स्थिति (वाला बनकर) में विहित कर्मों का शक्ति भर आचरण करें तथा इसी प्रकार प्रतिषिद्ध कर्मों का परित्याग करते हुए जीवन यापन कर अन्त में परमगति (मोक्ष) को प्राप्त करे॥९२॥

पाखण्ड-शैवशाक्तादि-तन्त्रार्चालोकनादिकम् ।
स्वतो ब्रह्मशिवादीनां बद्धानामर्चनादिकम् ॥९३॥
ऊनधीः समताशङ्का विष्णोर्विस्मृतिरेव च ।
अनादरश्च तन्मन्त्रलक्षणार्चाक्रियादिषु ॥९४॥
तस्यैवात्यन्तिके दास्ये विमतिः कामकामिता ।
अविश्वासः प्रपदने साधनान्तरसंश्रयः ॥९५॥
साधनत्वाभिमत्या च निजधर्मस्य वर्जनम् ।
असच्छास्त्रेष्वभिरतिर्दिव्यशास्त्रावधीरणम् ॥९६॥
अभागवतसंसर्गो रीढ़ा भागवतेषु च ।
मर्त्यसामान्यभावेन गुरौ चानतिगौरवम् ॥९७॥

दृष्टि विरुद्ध तत्वों में पाखण्डों (जैन तथा बौद्धागमों), शैव, शाक्त आदि तन्त्रों के अनुसार देवतार्चन आदि का करना तथा स्वयं ही गुणों से बद्ध ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं का दृष्ट या इष्टभाव में अर्चनादि करना यह सभी 'भक्ति' के विरुद्ध कार्य माना जाता है।[१] इसके अतिरिक्त अपने इष्ट की सामर्थ्य (या स्वरूपादि) में न्यूनताबुद्धि रखना, उनके समान दूसरे इष्ट की समता की मन में आशंका रखना, इष्टदेव विष्णु को विस्मरण कर देना तथा उनके मन्त्रों, लक्षणों तथा अर्चादि आस्था में उपेक्षा भाव का रखना दृष्टि तथा भक्ति के विरुद्ध कर्म माना गया है। अथवा प्रपत्ति से किये गये आत्यन्तिक दास्यभाव से विरुद्ध बुद्धि की स्थिति रखने लगना, किसी काम्य या इष्टभाव की इच्छा करना, प्रपत्ति के विषय में दृढ़ विश्वास में शिथिलता लाना या विधानों के अतिरिक्त दूसरे साधनों को (आश्रय) ग्रहण करना

१. पाखण्ड जो वेद के प्रतिकूल है उनके साधनापथ का अनुशीलन या अनुमोदन करना भक्ति के मार्ग में बाधक होता है क्योंकि इससे दृष्टिभेद उत्पन्न होता है। अनेक गुणाश्रित देवगण का अर्चन भक्ति विरुद्ध कार्य है।

भी भक्ति के विरुद्ध माना जाता है। स्वयं के प्रपत्तिरूप धर्माचरण होने से अपने कुल तथा वर्णाश्रम के उपयुक्त धर्मों से बाधा रहने के कारण प्रपत्ति का वर्जन करना तथा असच्छास्त्रों में रुचि ग्रहण करते हुए विष्णु देवता के अंकभूत शंखचक्रादि की उपेक्षा करना, भागवत-जन से संसर्ग न रखना, भागवतजन का तिरस्कार करना, अपने दीक्षा तथा मन्त्रादि के प्रदाता गुरुजन को मानवरूप में सामान्य भाव से देखना तथा उन्हें अधिक गौरव प्रदान नहीं करना, ये सभी सत्सेवा के विपरीत कार्य कहे गये हैं[1]।।९३-९७।।

इति भागवतस्योक्ताः प्रपन्नस्य विशेषतः ।
अपाया दुस्त्यजा ह्येते देह-बन्ध-निबन्धनाः ।।९८।।

इस प्रकार पूर्व में कही गयी ये सभी बातें विशेषकर दीक्षित तथा प्रपत्ति भाव से न्यासयोग के आचरणकर्ता को भगवत् प्राप्ति के उपाय में संलग्न रहनेवाले तथा तन्निष्ठभाववालों के लिये वर्जित हैं। ये सभी यद्यपि देह धारण के कारण एकदम छोड़े नहीं जा सकते हैं परन्तु ये विषभूत हैं तथा इन्हें छोड़ना आवश्यक है।।९८।।

एतानन्याँश्च विविधानपचारान् विशेषतः ।
सर्वानप्यनपाकृत्य नाप्नोति मधुसूदनम् ।।९९।।

इस प्रकार ऐसे अपचारों (विघ्नों) को तथा आगे कहे जाने वाले अपायों को भी जब तक हटाया नहीं जाएगा तब तक मधुसूदन श्रीविष्णु की अनुग्रह प्राप्ति सम्भव नहीं होगी।।९९।।

अतो देहस्य कालुष्यान्मन्त्रमर्थेन केवलम् ।
आवर्त्तयन् सदा वृत्तिङ्कुर्वन् कालं नयेत् सुधीः ।।१००।।

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायां न्यासोपदेशो नाम प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

इसलिये शरीर की कलुषता के कारण दीक्षा प्राप्त मन्त्र के अर्थादि चिन्तन बार-बार आवृत्ति करते हुए तथा विहित तथा आचारानुगत करते हुए जीवन के शेष समय को बिताया जाए।।१००।।

नारदपंचरात्र आगम में 'भारद्वाज-संहिता' के न्यासोपदेश की
'तत्वप्रकाशिका' हिन्दी व्याख्या का प्रथम अध्याय सम्पूर्ण

---

१ यहाँ विहिताचार विरुद्धता को ग्रन्थकार ने दिखलाया है तथा अगले अध्यायों में सत्सेवा के विरुद्ध कार्यों का विवरण दिया गया है। ये सभी अपायरूप हैं जिनकी हेयता अभीष्ट हैं।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथानुकूल्यमुख्यानि प्रपत्यङ्गानि विस्तरात् ।
धर्माणां तद्विरुद्धानां स्वरूपञ्च निबोधत ॥१॥

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अपने आराध्य इष्ट देव की अनुकूलता के लिये मुख्यरूप या स्थिति धारण करने वाले प्रपत्ति के अङ्गों का उसकें धर्मों का तथा प्रपत्ति के विरुद्ध धर्मो का अब विस्तार से स्वरूप तथा विवरण बतलाता हूं जिसे ध्यान देकर सुनिये।।१।।

(इस द्वितीयाध्याय के आगे का विवरण देने वाला मूल भाग उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा लगता है कि यह विच्छिन्न हो चुका है।)

इति प्रपत्ति धर्मादिनिरूपणात्मकों द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथ स्वकर्मनिरतः प्राज्ञो भक्तः सुलक्षणः ।
सत्सेवाभिरतो ह्येव प्रपन्नः सिद्धिमाप्नुयात् ।।१।।
(सत्सेवनाधिकारः)

वृत्ति के अंगों के निदर्शन के साथ अब प्रपत्ति का विवेचन करते हैंः-
तब दृष्टि सम्पन्न बुद्धिमान् एवं भगवत् लांछन से मण्डित भक्त अपने पूज्य सन्तजन की सेवा में निरत रहते हुए "प्रपत्ति" भाव में स्थित रहने पर सिद्धि की प्राप्ति करता है। (या निःश्रेयस को प्राप्त करता है)[१]।।१।।

यथार्हं विहितैस्तैस्तैः संस्कारैः संस्कृतः क्रमात् ।
नयेदात्मगुणोपेतस्तानि तानि व्रतानि च ।।२।।

यह साधक या भक्त सर्वप्रथम उन विहित गर्भाधानादि संस्कारों से क्रमशः संस्कृत होकर सर्वभूतों के प्रति करुणादि आठ आत्मगुणों से युक्त रहकर तथा वेदव्रत जैसे नियत कर्मों को पूर्ण करे या उनका आचरण करे[२]।।२।।

ध्यात्वा नारायणं देवमादौ कर्माण्यशेषतः ।
तस्यैवाराधनया कुर्यात् सङ्कल्पपूर्वकम् ।।३।।

फिर सर्वप्रथम श्रीनारायण देव का ध्यान कर सभी कर्मों को उन्हीं के आराधन परक मानकर उसी देव की ही आराधना में अपने समस्त कर्मों का संकल्प पूर्वक आचरण करें[३]।।३।।

समाप्तानि च कर्माणि तस्मिन्नेव समर्पयेत् ।
आदावन्ते च मन्त्राणां योजयेद् व्यापकान्तरम् ।।४।।

---

१ इस अध्याय में विहिताचार, दृष्टि, भक्ति, लक्ष्म तथा सत्सेवन का विवरण रहने से यह संग्रहरूप श्लोक विषय प्रवर्तनरूप है। पूर्व में विहिताचार तथा दृष्टि आदि का कथन हुआ था अतः निषिष्ठ विवर्जन की इस क्रम में चर्चा भी रहेगी। यह सभी इस एक श्लोक से संकेतित भी है।

२ प्रकृत कारिका से विहित आचारों का विवरण आरंभ किया गया है।

३ कारिका में प्रयुक्त तस्यैव पद से श्रीविष्णु की अर्चना की मुख्यता तथा प्रथम सम्पादन का संकेत है अतः अग्नि, इन्द्रादि का अर्चन करने में इस बात का ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

अपने आराधनादि कर्मों की (प्रतिदिन की) समाप्ति पर उन्हें श्री भगवदर्पित करें। मन्त्रों के आदि में तथा अन्त में व्यापक का अन्तर योजित करें॥४॥

प्रातरुत्थाय विधिवत् स्नात्वा नित्यं समाहितः ।
यजेत कर्मभिस्तैस्तैर्विष्णुं देवादिसंज्ञितम् ॥५॥

फिर वह ब्राह्म मुहूर्त में (प्रातःकाल) उठे तथा विधिपूर्वक स्नान कर आगे विहित सन्ध्यावन्दनादि कर्म सम्पन्न कर एकाग्रभाव से विविध देव नामों वाले व्यापक श्रीविष्णु की उन उन विहित विधियों के साथ अर्चना करें॥५॥

ततश्च देवदेवेशं भोगैरभ्यर्चयेद् हरिम् ।
अशुद्धवर्जं सकलैः परिचारैः समन्वितम् ॥६॥

फिर देवों के अधिपति श्रीविष्णु की गन्ध-पुष्प नैवेद्यादि भोग्य पदार्थों के द्वारा परिचर्या कर अर्चना करें। इनमें अशुद्ध देवादि परिवारों को हटाते हुए सभी परिचर्या रखी जावें[1]॥६॥

पूर्वमेव यथान्यायमभिगम्य जगद्गुरुम् ।
उपादाय च योगार्थान् सम्भारान्नियतः स्वयम् ॥७॥
यजेत पुरुषं साक्षाद् यथेच्छं प्रतिमादिषु ।
पञ्चरात्रेण विधिना गुर्वधीनोऽपरेण च ॥८॥

इस क्रम में सर्वप्रथम आचारादि का अनुसरण कर यथाविधान जगद्गुरु के समीप जाकर योग साधनों को ग्रहण करने के संकल्पों से नियत चित्त होते हुए उन सामग्री को रखकर फिर यथेच्छ भाव से साक्षात् शिला में या प्रतिमादि मे स्थित श्री हरि की अपने पूज्य गुरू के अधीन पञ्चरात्र प्रोक्त आगम के विधानानुसार अथवा श्रुति, स्मृति या पुराणादि में कथित विधि का अनुसरण करते हुए स्वयं अर्चना करे॥७-८॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैः स्त्रीभिस्तथा परैः ।
यथार्हमर्च्यः सेव्यश्च नित्यं सर्वेश्वरो हरिः ॥९॥

प्रतिदिन अपनी स्थिति तथा भावना के अनुरूप ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, स्त्रियों तथा अन्य अनुलोमादि सभी जातियों के द्वारा नित्य[2] सर्वजगदधिपति श्री हरि की पूजा की जानी चाहिए॥९॥

---

१ आशय यही कि अन्य देव परिवार या पंचायतन में स्थित श्रीविष्णु की सम्मिलितरूप में अर्चना के बजाय केवल श्रीविष्णु की केन्द्रीभूत अर्चना का विधान यथाशक्य सम्पन्न करना चाहिए।

२ श्रीहरि की अर्चना नित्य क्रिया है। कहा भी है कि–'नित्यं सदा यावदायुर्न कदाचिद्व्यतिक्रमेत्' । अर्चन श्रीविष्णु का या पादुकादि का जैसी भी स्थिति हो करना चाहिए।

अधिकप्रीतिरर्चायामेकान्ती हरिमर्चयेत् ।
तदभावेऽग्निवत्सूर्यभूम्यम्बुगगनादिषु ॥१०॥

श्री विष्णु के प्रति अधिक अभिरति या भक्ति रखकर भक्त एकान्तिक या अनन्य भाव की स्थिति में उनकी अर्चना प्रतिमारूप में ही करे। अर्चना के बाद श्रीहरि की स्थिति अग्नि सूर्य, पृथ्वी, जल, आकाश तथा पादुकादि में भावित रखे (तथा इनमें भी हरिभाव रखकर इन्हें भी पूर्जित करे)॥१०॥

भोज्ययेद् वैष्णवान्नित्यं पित्रर्थानतिथीँस्तथा ।
वैष्णवानेव बिभृयात् पुत्रदारादिकान् निजान् ॥११॥

सामर्थ्यानुसार नित्य वैष्णवों को भोजन करवावे तथा पितरों के निमित्त रखे गये श्राद्धादि में वैष्णवजन को अतिथि बनाकर इनको भोजन करवावे। वह अपने पुत्र, पत्नी आदि परिवार जन को भी वैष्णव दीक्षा दिलवाकर 'वैष्णव' बनवा दे॥११॥

नातिसङ्गः परिचरेत् पुत्रादीनप्यवैष्णवान् ।
भिक्षेत वैष्णवेष्वेव ब्रह्मचारी यतिस्तथा ॥१२॥

पुत्रादि के अवैष्णव रहने पर स्वयं इन पुत्रादि के साथ रहने की या संगति भावना न रहने से उन्हें भी वैष्णव दीक्षा दिलवानी चाहिए। वैष्णव ब्रह्मचारी और यति भी वैष्णवों के यहाँ से ही यथासंभव भिक्षा तथा भोजनादि प्रसाद प्राप्त करें॥१२॥

असद्दृष्टिं परिहरेदच्युतस्य निवेदिते ।
दद्यादाचार्यमुख्येभ्यः स्वार्थश्चात्र प्रकल्पयेत् ॥१३॥

श्रीभगवान् को अर्पित प्रसादान्न को भी अवैष्णवों की दृष्टि से देख लिये जाने पर अपवित्र हो जाने के कारण ग्रहण नहीं किया जावे। ऐसा द्रव्य आचार्यादि प्रमुख को प्रथम अर्पित कर दे तथा उनसे लौटा दिये गये शेष बचे हुए कुछ अंश को अपने लिये रख ले॥१३॥

निवेद्य यदि तद्भूयः परिषेकादिपूर्वकम् ।
जुहुयादाहुतीः पञ्च विष्णौ प्राणादिसंज्ञके ॥१४॥

तब फिर ईश्वरार्पण किये गये उस प्रसादादि को जल से परिसिंचन या प्रक्षेप पूर्वक पुनः श्रीहरि को अर्पित करे और श्रीविष्णु को प्राणादि पंच आहुति को 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों से प्रदान करे॥१४॥

निवेदयेच्च भुञ्जानो मनसानागतं पुरः ।
मनो हि पूतमन्यत्र सूतोदक्याशवस्पृशः ॥१५॥

भोजन के बीच में पहिले अर्पित पदार्थों से भिन्न आनेवाले पदार्थों का निवेदन मन से प्रभु श्री वैष्णव को करे। मन केवल सूतक से युक्त, रजस्वला तथा शव के स्पर्श से शरीर की तरह अशुद्ध होता है और इनसे भिन्न स्थिति में मन शुद्ध माना जाता है॥१५॥

प्रशस्तं भगवद्भुक्तं पितृदेवादिकर्मसु ।
लब्धेन चान्यतस्तेन पुनर्यागोऽपि चोदितः ॥१६॥

पितृ देवादि कर्मों में भगवदर्पित अन्नादि भोग्य पदार्थ प्रशस्त माने जाते हैं। यति आदि के द्वारा भिक्षादि में इनसे भिन्न स्थान और स्थिति में प्राप्त करने पर उनके द्वारा बाद में ऐसे पदार्थों के ग्रहण करने पर याग करने का विधान कहा गया है॥१६॥

कृत्वानुयागं कुर्वीत स्वाध्यायं वैष्णवं परम् ।
ततो युञ्जीत चात्मानं पुरुषे पुष्करेक्षणे ॥१७॥

इस प्रकार होने पर वह विहित याग के सम्पादन करने के बाद होने वाले भगवन्मन्त्रादि के स्वाध्याय तथा जपादि के रूपवाले 'अनुयाग' का भी सम्पादन करे और फिर कमलनेत्र श्रीविष्णु में आत्मा (मन) को अविच्छिन्नभाव से लगाये॥१७॥

ये च भागवता मन्त्रा ये च दिव्याश्च विग्रहाः ।
यथोपदेशं नियतस्ताँश्च सेवेत नित्यशः ॥१८॥

वह प्रतिदिन सदा ही गुरुद्दीक्षा में प्राप्त भगवन्मन्त्रों को तथा आचार्य कृपा से प्राप्त श्रीविष्णु के मन्त्रों तथा प्रतिमाओं के रूप वाले विग्रहों का पवित्रभाव से नियतचित्त होकर अपने उपदेशानुरूप ध्यान करे (या उनका सेवन करे)॥१८॥

कृत्वाभिगमनं पूर्वमुपादाय च सम्पदः ।
इष्ट्वाधीत्य च युञ्जानो भोगैः कालं नयेद् यतिः ॥१९॥

इस प्रकार वह पांच विभागों में किये जाने वाले कृत्यों में सर्वप्रथम अभिगमन कर फिर याग की सामग्री का उपादान करें फिर याग का सम्पादन करे फिर स्वाध्याय का अध्ययन (पाठादि) करे फिर ध्यानादि भक्तियोग का सम्पादन करते हुए अपने समय को व्यतीत करे॥१९॥

तमेव मत्वा भोक्तारमिज्यं यष्टारमेव च ।
यजेत सकलैर्यज्ञैः सर्वयज्ञमयं हरिम् ॥२०॥

याग से उत्पन्न प्रीति के आधारभूत कर्तारूप श्रीविष्णु को ही भोक्ता के रूप में मानकर तथा उन्हें ही याग का विषय तथा यज्ञकर्ता भी मानते हुए सभी

नामरूपवाले (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञों से उनका ही यजन करे, क्योंकि श्रीहरि सभी यज्ञों में अधिष्ठित हैं अतः उन्हें 'सर्वयज्ञमय' समझना चाहिए॥२०॥

विष्णोः सेवेत तीर्थानि तथैवायतनानि च ।
दद्यादर्थांश्च विप्रेभ्यश्चरेच्च विविधं तपः ॥२१॥

दीक्षित एवं साधक भक्त श्री विष्णु सम्बन्धी तीर्थों की यात्रा कर उनका सेवन करे, इसी प्रकार श्रीविष्णु के आयतन भूत श्रीरङ्गादि स्थित मन्दिरों का सेवन भी करे। वह 'सुपात्र' वैष्णव ब्राह्मणों को दान दे तथा विविध प्रकार के उपवास प्रधान तपचान्द्रयणादि व्रतों का भी आचरण करे॥२१॥

प्रायश्चित्तं तु परमं प्रपत्तिस्तस्य केवलम् ।
कुर्यात् कर्मात्मकं वापि वासुदेवमनुस्मरन् ॥२२॥
विशुद्धयेद्विष्णुभक्तस्य दृष्टया स्पर्शेन सेवया ।
स्मरणेनान्नपानाद्यैर्गिरा पादरजोऽम्बुभिः ॥२३॥

अभागवत दृष्टयादि के लिये सर्वोत्तम प्रायश्चित्त केवल श्री विष्णु की प्रपत्ति होती है तथा शक्ति के होने पर भी श्रीवासुदेव का स्मरण करते हुए कुछ कर्म या अनुष्ठान रूप प्रायश्चित करना चाहिए। (निमित्त के थोड़े या अल्प मात्रा में होने पर तदनुरूप लघु तथा गुरु होने पर क्रियारूप वैष्णवेष्टि याग रूप प्रायश्चित रहता है। (अवैष्णव दृष्टि के लिये वैष्णव दृष्टि ही प्रायश्चित है, अवैष्णव स्पर्श का वैष्णवस्पर्श, अवैष्णवजन की सेवा का वैष्णवसेवा अवैष्णव स्मरण का वैष्णव स्मरण तथा अवैष्णव अन्न पानादि का वैष्णव अन्नपानादि करना प्रायश्चित्त है। वाणी से अवैष्णवजन के साथ सम्भाषण का प्रायश्चित पुनः वैष्णवजन के साथ सम्भाषण कर तथा अवैष्णवजन के चरणरजों का वैष्णवजन की चरण धूलि से अवैष्णव जलपान का वैष्णवजन के जलपान से प्रायश्चित्त हो जाता है॥२२-२३॥

विष्णोर्निवेदितान्नाद्यैस्तथा तत्कीर्तनादिभिः ।
अभागवतदृष्टयादेः शुचिरेषा विशेषतः ॥२४॥

विशेषकर अभागवत दृष्टि आदि की श्रीविष्णु को निवेदित प्रसादान्न आदि के ग्रहण तथा उनके कीर्तनादि कर्मों से शुद्धि होती है॥२४॥

कृता यज्ञाः समस्ताश्च दानानि च तपांसि च ।
प्रायश्चित्तमशेषेण नित्यमर्चयतां हरिम् ॥२५॥

बिना किसी विच्छेद के नित्य श्री विष्णु का अर्चन करने वाले प्रपन्न भक्त को सभी प्रायश्चित्त स्पर्श नहीं करते हैं, क्योंकि उसके इस अर्चना के कार्य मात्र से सभी यज्ञ किये गये, सभी दान दिये गये तथा सभी तप किये गये माने जाते हैं। (अतः

नैमित्तिक अनुष्ठानादि की भी उसे अपेक्षा नहीं होती)[१]॥२५॥

एवं नित्यानि कर्माणि तथा नैमित्तिकानि च ।
भर्तुः प्रियकराणीति कुर्यात् प्रीत्यैव केवलम् ॥२६॥

अपने इष्टभूत सर्वान्तर्यामी स्वामी श्री विष्णु के निमित्त कहे हुए नित्य और नैमित्तिक कर्मों का आचरण उनके प्रिय भाव के कारण केवल प्रीतिमात्र के भाव से सम्पन्न करे॥२६॥

अथैवं ब्राह्मणो विद्वानेकान्ती धर्ममाचरन् ।
सरहस्यमिदं सम्यक् साधुभ्यश्चोपपादयेत् ॥२७॥

अतः विद्वान् ब्राह्मण वेदों का अध्ययन तथा उस पर विचार कर परमेकान्त भाव से इन कथित धर्म तथा विहित आचारों का पालन करते हुए वृत्ति[२] के रहस्यों के साथ इन्हें उपदेश के पात्र साधुजन को पाने पर उन्हें भी इनका उपदेश दें॥२७॥

प्रजापालनरूपञ्च धर्मं भागवतं चरन् ।
प्राप्यापि महदैश्वर्यं मृतः स्यादेव निर्भरः ॥२८॥

इसी प्रकार क्षत्रिय अपने वर्ण के अनुरूप विहित आचारों के अनुरूप प्रजापालनरूप धर्म के साथ भागवत् धर्म का आचरण करते हुए अतिशय ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी उस ऐश्वर्य से बद्ध न होकर मुक्तिभाव को मृत्यु के बाद प्राप्त करता है॥२८॥

तथा वैश्यः स्वधर्मस्थो वैष्णवानभितर्पयन् ।
धनेष्वसक्त एकान्ती परं प्राप्नोति तत्पदम् ॥२९॥

इसी प्रकार वैश्य भी अपने वर्ण धर्म के अनुरूप वैष्णवजन को भोजनादि से तृप्त करते हुए अपनी विस्तीर्ण सम्पत्ति में अनुसक्त भाव से रहते हुए एकान्तभाव से भी श्रीविष्णु का सेवक बनकर उनके परमपद को प्राप्त करता है॥२९॥

शुश्रूषमाणः शूद्रोऽपि वैष्णवानग्रजन्मनः ।
स्वधर्मरत एकान्ती मुच्यते सर्वकिल्विषैः ॥३०॥

इसी प्रकार सेवा में लगा हुए शूद्र भी वैष्णव ब्राह्मण तथा क्षत्रियादि की सेवा करते हुए अपने वर्णधर्म का पालन कर भगवन्निष्ठ हो वैष्णव धर्म का पालन करते हुए सभी पातकों से मुक्त होता है॥३०॥

---

१ इस कथन से यज्ञ, दान, आदि सकल धर्माचरण की अपेक्षा नित्य श्रीविष्णु के आराधन तथा अर्चन की प्रधानधर्म के रूप में प्रशंसा तथा महत्व दिखलाया गया है। इसका आशय यह कि वेदाभिहित यज्ञादि के कारणवश न करने के प्रायश्चित की नित्यकर्म के कारण उसके अनुरूप स्थिति तो बनी रहेगी।

२ इस विहिताचरणरूप वृत्ति तथा इसके व्यवहार आदि विधियों का अनुकूल तथा अधिकारी पात्र को ही उपदेश दिया जावे।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
एकान्तिनः स्वधर्मस्थाः सर्वे यान्ति परां गतिम् ॥३१॥

इसी प्रकार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक भी श्री विष्णु के प्रति प्रपत्ति रख एकान्तभाव से अपने अपने धर्मों के व्रतों में स्थित रहते हुए परम गति को प्राप्त करते हैं॥३॥

नित्योप्तकेशा निभृतास्त्यक्तसर्वपरिग्रहाः ।
स्त्रीशूद्राद्याः स्वधर्मेण वर्तेरञ्जगतीपतौ ॥३२॥

ऐसे स्त्री, शूद्र आदि जो कि धन दारा आदि के परिग्रह से रहित होकर सदा ही अपने केशों का मुण्डन करवाकर निश्छल भाव से जगद्गुरु श्री विष्णु के प्रति अपने दीक्षादि से विहित आचारों का पालन करते हुए स्वधर्म का पालन करते रहें॥३२॥

वर्णाश्रमपराश्चैव परेऽपि हरिमाश्रिताः ।
अपायैर्नावसीदन्ति स्वेषु धर्मेष्ववस्थिताः ॥३३॥

चारों वर्ण तथा चारों आश्रमों से भिन्न जो अनुलोम प्रतिलोमादि जातियां हैं वे भी श्रीहरि की प्रपत्ति ग्रहण कर अपने विहित धर्मों में स्थित रहते हुए किसी अभाव या कष्ट से नष्ट नहीं होते हैं॥३३॥

समाश्रितो दास्यरतिं पतिं विश्वस्य माधवम् ।
यथार्हमाचरन् धर्मान् भूयो दृष्ट्यादि संश्रयेत् ॥३४॥

विश्व के अधिपति श्रीपति विष्णु के प्रति दास्यभाव की अभिरति रखते हुए उनका आश्रय लेकर अपने योग्य वर्णाश्रम धर्म का आचरण करते हुए साधक को बार बार इष्ट के ज्ञान तथा दृष्टि के साथ सभी चिन्ह, भक्ति तथा सत्सेवा आदि सभी आश्रय लेकर स्थित रहना चाहिए॥३४॥

प्रतिष्ठां सर्वधर्माणां प्रसादैकात्मनां हरेः ।
तदाज्ञारूपमनघं शास्त्रश्रुत्यादि मानयेत् ॥३५॥

श्रीविष्णु के प्रसाद मात्र फलवाले सभी धर्म प्रतिष्ठा से युक्त स्थित माने गये हैं। अतएव भगवदाज्ञारूप तथा निष्पापरूपी अपौरुषेयरूप नित्य रूप वाले वेदादि तथा शास्त्रादि को भी पुरुषार्थ में अनुगत प्रमाणभूतरूप में श्रद्धा से मान्य करें॥३५॥

साङ्गान् वेदानधीयीत न्यायैश्चार्थं विचारयेत् ।
विद्यात् कर्मादिकं यत्र विष्णोराराधनात्मकम् ॥३६॥

अतएव साङ्गवेदों का अध्ययन कर स्वाध्याय संस्कार किया जावे, न्यायादि

(जैमिनि आदि के वस्तु परीक्षणादिरूप मीमांसा) शास्त्रों से वेदों के अर्थों का विचार कर तथा वहाँ श्रीविष्णु की आराधनारूप कर्मों को ध्यान देकर समझें।।३६।।

व्यवस्थां पदवर्णादिश्छन्दः कालक्रियाविधिम् ।
ज्ञात्वाङ्गैर्गमयेदर्थान् न्यायैः सर्वत्र साधुभिः ।।३७।।

वेद मन्त्रों की पद वर्णादि की व्यवस्था, प्रमाणादि व्यवस्था, छन्दों की गायत्री आदि में व्यवस्था, काल स्वरूप तथा स्थिति, यज्ञादि की क्रिया विधि आदि को अङ्गों के द्वारा (अर्थात् पद व्यवस्था को व्याकरण शास्त्र से वर्णव्यवस्था को शिक्षा के द्वारा) प्रमाणादि व्यवस्था को मीमांसादि शास्त्रों के न्यायों के द्वारा, छन्द की व्यवस्था, छन्दोविचितिसे, काल की ज्योतिषशास्त्र से क्रियाविधि को कल्पसूत्र से जानकर सम्यक्रूप से अर्थों का विचार सम्पन्न करें।।३७।।

शिष्टैर्वर्णाश्रमादीनामच्युताराधनात्मकान् ।
स्मृतांश्च विविधान् धर्मान् विद्याद्वैदिकसम्मतान् ।।३८।।

मनु आदि शिष्ट धर्मशास्त्र वेत्ताओं के द्वारा मान्य वर्ण आश्रम आदि धर्मों को तथा अच्युत की आराधना के लिये स्मृत्युपदिष्ट (पुराणाद्युपदिष्ट वैदिक धर्म के समस्त विविध धर्मों का ज्ञान प्राप्त करे।) मनु आदि के धर्मशास्त्रों से कर्मभाग का उपवृहंण सम्पन्न करें या उनका ज्ञानार्जन करें।।३८।।

अथौपनिषदञ्चार्थं शृणुयान्न्यायतः सुधीः ।
येनाराध्यं परं ब्रह्म जानीयात् पुरुषोत्तमम् ।।३९।।

इस प्रकार कर्म-विचार के बाद 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि ब्रह्म-विद्या उपनिषदों के गूढ़ अर्थों का न्यायादि के साथ परिशीलन करें (स्वाध्याय करे) और इस प्रकार वह सुधी 'पुरुषोत्तमं परं ब्रह्म' का जो कि आराध्य है, ज्ञान प्राप्त करे।।३९।।

पञ्चरात्रं महद्दिव्यं शास्त्रं श्रुतिविभावनम् ।
विशेषेणाधिगन्तव्यं गीतं भगवता स्वयम् ।।४०।।

वह उपनिषदों के इन अर्थों का पंचरात्र, इतिहास तथा पुराणादि के साथ वेदान्त परिब्रह्मण के सम्पन्न करने के क्रम में तब भगवान् के द्वारा स्वयं उपदिष्ट महत् 'पञ्चरात्र शास्त्र' का जो दिव्य तथा वेदों के गुह्यार्थ को दिखलाने वाला है, उसे विशेषरूप में जाने (इसे महत् कहने का आशय यह है कि इस आगम में एक सौ आठ संहिताएँ आती हैं) अतः यह विशालरूप वाला है।[1]।४०।।

---

१ इसका कारण यह है कि वेद तथा वेदान्त के अनुमत तत्वों को विस्तीर्ण मीमांसा के कारण अंतरंग भूत शास्त्र होने के कारण इनका अनुशीलन विशेषरूप में करना आवश्यक है।

वेदवेद्यः स भगवान् कृपया परयाच्युतः ।
चतुर्विधमिदं प्राह सर्वेषां हितकारणात् ॥४१॥

वेदादि के द्वारा जो भगवान् श्रीविष्णु जाने जाते हैं उन अच्युतभगवान् ने अतिशय कृपा के द्वारा इस आगम-सिद्धान्त पन्चरात्र को सभी प्राणिजन के हितों को ध्यान में रखकर चार भागों में विभक्त कर १-आगम सिद्धान्त २-मन्त्र सिद्धान्त ३-तन्त्र सिद्धान्त तथा ४-तन्त्रान्तर सिद्धान्त के रूपों में प्रतिपादित किया॥४१॥

परस्य ब्रह्मणस्तस्य विद्याद्व्यूहादिसंस्थितीः ।
ज्ञानं क्रिया समस्ताश्च योगश्चात्र फलानि च ॥४२॥

इसमें उस परब्रह्म की कही गयी चतुर्व्यूह स्थिति का ज्ञान प्राप्त करें। ये हैं-१ ज्ञान, २ सत्क्रिया, ३ योग तथा ४ चर्या (जिनमें परब्रह्म का ज्ञानस्वरूप, समस्त कर्षणादि प्रतिष्ठान्त क्रियाएं तथा उत्सवादि प्रायश्चितान्त क्रियाओं का, योग स्वरूप तथा चर्यारूप का जो कि इसके चारों पाद हैं) अतएव शास्त्रों से इनका ज्ञान सम्पादन करना चाहिए॥४२॥

पुराणान्यवगाहेत सेतिहासानि यत्र च ।
केशवस्य जगत्-सर्गस्थिति-भङ्गादि कीर्त्यते ॥४३॥

इस क्रम में पुराण तथा इतिहासों का अनुशीलन किया जाए जिनमें श्रीभगवान् केशव के द्वारा जगत् की सृष्टि, जगत् का संरक्षण तथा प्रलयादि का कीर्तन किया जाता है। (तथा इनमें अच्युत के दिव्यावतारों तथा उनके कार्यों का भी वर्णन किया जाता है)॥४३॥

स्तोत्राणि कल्पनामानि कथाश्च विविधा हरेः ।
सद्भिः प्रणिहिताँश्चान्यान् प्रबन्धान् परिशीलयेत्॥४४॥

इसी प्रकार कल्पादिमन्त्रप्रतिपादक तथा व्रतादि के प्रतिपादक स्तोत्रों तथा श्री विष्णुसहस्रनामादि नामों, श्री अच्युत की विविध पुराणस्थित कथाओं का तथा महात्माओं के द्वारा रचित इसी प्रकार के प्रबन्धों आदि का भी वह परिशीलन करे॥४४॥

मूलस्कन्धमया वेदाः पञ्चरात्रञ्च यत्परम् ।
अन्यच्च तत्परं ग्राह्यं शास्त्रं नान्यादृशं पुनः ॥४५॥

वेदमूलके स्कन्धरूप जो अनुवाद हैं उनका तथा जो उपनिषदरूपवाले हैं उनका और जिनके गूढ़ अर्थों का प्रतिपादक आगम पञ्चरात्र माना जाता है उनका अनुशीलन करे। इसी के समान ज्ञानादि प्रतिपादक अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया जाए परन्तु इनके विरुद्ध जो नास्तिक शास्त्रादि आते हैं उनका अनुशीलन न करें॥४५॥

इति दृष्टयाधिकारः

प्रभुं भक्तपराधीनं नित्यमालोकयेद्धरिम् ।
विमानमथ वा तस्य दूराद् गोपुरमेव वा ॥४६॥

सर्वेश्वर श्री हरि का जो कि भक्ति के कारण भक्तों के अधीन रहते हैं तथा जो उन पर कृपा करते हैं अतः उनका नित्य दर्शन करे (क्योंकि भगवद्दर्शन भक्ति का आधार तथा आपादक है) अथवा परिस्थितिवश दूर स्थित रहकर उनके विमान अथवा गोपुर का ही दर्शन नित्य कर लें।।४६।।

स्वरूप-रूप-विभव-गुण-कर्माणि शार्ङ्गिणः ।
आचक्षीत निबध्नीयाच्छृणुयाद्विलिखेत् पठेत् ॥४७॥

श्रीविष्णु का स्वरूप, उनके रूप या विग्रहों, उनकी विभूतियों उनके ज्ञानादि गुणों, उनके गजेन्द्र रक्षण रूप कार्य, अर्जुन का सारथि बनने जैसे कार्यों या दिव्यचेष्टितों का विचार कर, इनकी व्याख्या करे।वह इन दिव्यचरितों का श्रवण करें, इनका लेखन तथा पठन भी करे।।४७।।

चतुर्भुजमुदाराङ्गं श्यामं पद्मनिभेक्षणम् ।
श्रीभूमिलीलासहितं चिन्तयेच्च सदा हृदि ॥४८॥

वह सदा ऐसे श्री विष्णु का जो कि चतुर्भुज, उन्नत शरीरवाले, श्याम वर्ण, कमलदल के समान विशाल नेत्रों वाले तथा श्रीभूमि लीलादि के साथ हों तो ऐसे उनके स्वरूप का हृदय से चिन्तन करता रहे।।४८।।

उपेत्यायतनं विष्णोः प्रणिपत्य ततस्ततः ।
परीत्य देवदेवेशं प्रणम्यात्मानमर्पयेत् ॥४९॥

वह श्रीविष्णु के मन्दिर में नित्य पहुँचे तथा वहाँ उन्हें प्रणाम कर प्रदक्षिणा करें तथा अपने प्रपत्तिभाव के स्मरणार्थ आत्मनिवेदन नित्य प्रस्तुत करता रहे।।४९।।

प्रीतिसंहृष्टसर्वाङ्गः स्तुत्वा वापि विलोकयेत् ।
कृतप्रसादः सेवेत नियतात्मा यथोचितम् ॥५०॥

वह भगवत्प्रीति से रोमांचित भाव में आकर इष्ट श्री अच्युत की स्तुति करते हुए उनका दर्शन करे। भगवान् ने उस पर प्रसाद किया हैं, ऐसी भावना रखे फिर वह नियतचित्त से अपने पारिवारिक व्यक्तिगत कार्यों का आचरण करे(या ऐसे कार्यों का आचरण तथा सेवन करे।।५०।।

यात्रादिषु च सेवेत तद्दृष्टिस्तद्गुणान् वदन् ।
तत् कर्माणि च युक्तस्तज्जनसम्बन्धहर्षितः ॥५१॥

वह भगवान् की रथयात्रादि के प्रसंग आने पर उनकी ओर अपनी दृष्टि लगाते हुए तथा उनके गुणानुवाद नामादि को उच्चारित करते हुए उनके द्वारा किये गये दिव्य

कर्मों का कथन करते हुए रथयात्रा में एकत्रित अन्य वैष्णवों से युक्त होकर प्रसन्नभाव से इष्टदेव का सेवन करे।।५१।।

गायेदास्फोटयेन्नृत्येदुत्पतेन्निपतेत् स्खलेत् ।
क्रोशेद्विषीदेद्हृष्येच्च विष्णोः प्रेमवशानुगः ।।५२।।

वह श्रीविष्णु के ऐसे उत्सवादि प्रसंग में सम्मिलित होकर भक्ति के भावावेश में प्रेमवश उनका गुणगान कर गायन करे, भुजास्फोटन करे, करताल बजावे, नृत्य करे, उत्पतन करे, निपतन करे, स्खलद्गति में चेष्टारत रहे, आक्रोश भाव में स्थित होकर विषाद करे तथा प्रसन्नभाव दिखलावे।।५२।।

कुर्वाणश्च सदा वृत्तिं विष्णोरायतने वसेत् ।
दद्याच्च विविधान् भोगाननुरूपान् मनोरमान् ।।५३।।

वह श्रीविष्णु के मन्दिरादि स्थानों में सेवाभाव से सम्मार्जन आदि वृत्ति कर स्थित रहे तथा चन्दन, अगरू, कस्तूरी आदि देशकाल के अनुरूप शास्त्रानुमोदित सुन्दर भोग्य पदार्थों को श्री भगवान् को अर्पित करे।।५३।।

परीवारांश्च सेवेत भक्त्या परमया हरेः ।
तत्तदर्चागतान् भक्तान् गुर्वादींश्च विशेषतः ।।५४।।

श्रीहरि के परिवारभूत श्रीदेवी के भूषण स्वयं के आयुध, परिजन आदि संवाहन, परिच्छद सेनाधिप चण्डादि द्वारपाल, कुमुदादिगणाधिप रूप भगवान् की उन उन अर्चाओं में प्रतिष्ठापित परिवारों का तथा श्रीहरि के भक्तों उनका मन्त्र देने वाले गुरुजन का विशेषरूप में सेवन करे।।५४।।

हरेराश्रितवात्सल्यात् तत्तत्स्थानाभिनन्दिनः ।
असाधारणभावेन तत्र तत्रैव वा वसेत् ।।५५।।

वात्सल्य तथा अनुरागवश श्रीहरि के द्वारा आश्रित तीर्थादि स्थानों का जैसे श्रीरंग, हस्तिगिरि, यदुगिरि जैसे दिव्य प्रदेशों का वह असाधारणभाव से अभिनन्दन करते हुए यात्रादि के प्रसंग में सेवन करे अथवा अतिशय भक्तिवश उन्हीं प्रदेशों में अपना निवास भी रखे।।५५।।

ये च भुक्तोज्झिता भोगाः श्रीपतेः शिरसा नतः ।
अभ्येत्य प्रतिपद्येत भक्त्या परमया स्वयम् ।।५६।।

जो श्रीहरि से भुक्त होकर निर्माल्यभूत माल्यादि भोग हों, उन्हें परमभक्ति के साथ विनत मस्तक कर प्रणाम के साथ अभिमुख होकर ग्रहण करे।।५६।।

पादोदकं भगवतो लब्ध्वा भागवतस्य वा ।
तिष्ठन्नेवाथयासीनः पिबेच्छुद्धिश्च नापरा ।।५७।।

श्री हरि के चरणामृत स्वरूप जल को हाथों में ग्रहण कर स्थित होकर अथवा बैठकर पान करे। इसी प्रकार पूज्य भागवतजन का पादोदक भी ग्रहण कर उसे भी पान करे। इसके अतिरिक्त अन्य शुद्धि-आचमन हस्तप्रक्षालनादि स्वरूप नहीं मानी जाती है। (कहीं कहीं विष्णुपादोदक को पान न कर मस्तक पर सिंचन करने तथा उसे अज्ञानवश पृथ्वी पर न गिराने का भी उल्लेख मिलता है क्योंकि यदि मोहवश यह जल पृथ्वी पर गिर जाए तो गृहीता का पतन होता है।।५७।।

पुरराष्ट्राभिवृद्ध्यर्थमर्चितस्य जगत्पतेः ।
शेषभाजोऽर्थिनः सर्वे सन्त एव सतां गृहे ।।५८।।

अर्चना के बाद भी श्री हरि के भुक्त प्रसादरूप चरणामृतादि पदार्थ पुर तथा राष्ट्र की अभिवृद्धि के कारण हैं। अतः इस प्रसाद के अपेक्षी सभी सन्तजन होते हैं तथा गृह में अर्चित श्रीहरि के दर्शन तथा उनका प्रसाद ग्रहण करने हेतु स्थित सन्त तथा भक्तजन ही अधिकारी होते हैं (अन्य नहीं)।।५८।।

(इति भक्त्यधिकार)

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो नारी तथेतरः ।
चक्राद्यैरङ्कयेद् गात्रमात्मीयस्याखिलस्य च ।।५९।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, नारी तथा अन्य सभी जन श्रीहरि के चक्रादि आयुध या लक्ष्म से अपने अपने तथा परिवार के सभी के शरीरों के अंकित करें।।५९।।

अनिष्टानां निवृत्यर्थमैकान्त्याय जगत्पतेः ।
सिद्ध्यर्थं कर्मणाँश्चैव धार्यं चक्रादिलाञ्छनम् ।।६०।।

इन चक्रादि लांछनों को धारण करने का प्रयोजन यह है कि इससे अनिष्टों की निवृत्ति होती है तथा जगदीश श्रीनारायण की परमैकान्तिकता की पुष्टि होकर आरब्ध कर्मों में सिद्धि प्राप्त होती है। अतः श्रीहरि के इन चक्रादि लांछनों का धारण आवश्यक है।।६०।।

बाह्वोर्ललाटे शिरसि हृदये चाग्रजन्मनाम् ।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गखड्गैः मन्त्रेण दाहयेत् ।।६१।।

इन्हें दोनों बाहुओं पर, ललाट देश में, मस्तक पर, शरीर में, हृदय स्थान पर मन्त्रपूर्वक ब्राह्मणादि के शरीर पर दाहन के साथ अंकित करना चाहिए।।६१।।

विष्णोरायतनाग्नौ वा गुरोरात्मन एव वा ।
हुते हेमादिभिस्तप्तैः सुरूपैरर्चितैः क्रमात् ॥६२॥

श्रीविष्णु के मन्दिर में स्थित अग्नि में अथवा श्रीविष्णु के नैवेद्यार्थ निर्मित पाकादिकी अग्नि में, गुरु की अग्निहोत्रादि हवन कार्य की हुई अग्नि में या स्वयं के घर की पवित्र अग्नि में इन चक्रादि मुद्राको सन्तप्त करे जो हेम रजत, ताम्र आदि से निर्मित हों तथा जिनकी विधिवत् अर्चना पूर्व में की जाए फिर उभरते अंगों को अग्नि से तप्त कर, उनसे अंकित करे॥६२॥

दासभूतं यदात्मानं बुद्धचेत परमात्मनः ।
तदैव गात्रं कुर्वीत शङ्खचक्रादिलाञ्छितम् ॥६३॥

जब साधक या शिष्य परमेश्वर श्रीविष्णु की दासभावना का स्वयं अन्तरात्मा से बोध अनुभव करे तभी उसके शरीर को शंख, चक्रादि से यथास्थान लांछित करना चाहिए॥६३॥

अङ्कितं क्वचिदप्येवं चक्रेणैकेन केवलम् ।
अनिष्टानान्तु भूतानां न तावद्वशगो भवेत् ॥६४॥

भागवतत्व की स्थिति इन चक्रादि के लांछन से होती है अतः किसी को केवल एक चक्र मात्र के लांछन के द्वारा भी अंकित किया जा सकता है (पूरे शरीर के निर्धारित स्थानों के विकल्प में अथवा शंख तथा चक्र की मुद्राओं के द्वारा अथवा सभी श्रीहरि के आयुधों की मुद्राओं से शरीर को अंकित किया जाना चाहिए।) ऐसा करने से अनिष्टकारी भूतादि तथा यमकिङ्करों पिशाचादि के वश में वह नहीं आ सकता है॥६४॥

अग्निषोमौ हि चक्राब्जौ सर्व एव तदात्मकाः ।
यदि वा मानयन्नेकं पूर्णो हि परमश्नुते ॥६५॥

चक्र तथा शंख अग्निषोमीय स्वरूप वाले माने गये हैं (अर्थात् चक्र अग्नि तथा अब्ज (शंख) सोमरूप है तथा सभी देवगण इन्हीं रूपों वाले माने जाते हैं। अतएव चक्र का धारण (ही) मुख्य है। या इन दोनों में से किसी एक को ही मुख्य मानते हुए धारण करे तो भी वह पूर्ण होकर परमफल का दाता होता है॥६५॥

शङ्खचक्रप्रधानं हि सर्वमन्यद् गदादिकम् ।
अङ्कितः शङ्खचक्राभ्यां सर्वैरङ्कित एव वा ॥६६॥

क्योंकि श्रीनारायण के सभी आयुधों में शङ्ख तथा चक्र की प्रमुखता है। अतः शङ्ख और चक्र के द्वारा अंकित होने पर वह सभी आयुधों से अङ्कित होकर (पूर्ण भागवत के रूप में) मान्य हो जाता है॥६६॥

धारयेदूर्ध्वपुण्डाँश्च विष्णोः प्रीतिकरान् सदा ।
जप-होमार्चनध्यान-दानादिषु विशेषतः ॥६७॥

वैष्णव भक्त अपने जप, होम, दान तथा अर्चन, ध्यानादि के अवसर पर भगवत्सेवा की परमयोग्यता के आपादनार्थ विशेषरूप में श्रीविष्णु के प्रीति के सदैव आधारभूत रहनेवाले ऊर्ध्व तिलक को अवश्य धारण करे॥६७॥

नश्यन्ति सकलाः क्लेशा नराणां पापसम्भवाः ।
अभीष्टान्यखिलानि स्युरूर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणात् ॥६८॥

इस ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक के धारण करने से मनुष्यों के पापों से उत्पन्न होने वाले समस्त क्लेशों का उपशम या नाश होता है तथा सभी अभीष्ट प्रयोजनों की संप्राप्ति होती है॥६८॥

त्रयोदश द्वादश वाप्यूर्ध्वपुण्ड्राणि धारयेत् ।
एकं चत्वारि षट् चाष्टावपि वाञ्छन्ति केचन ॥६९॥

इन ऊर्ध्वपुण्ड्रों के धारण में त्रयोदश या द्वादश संख्या की स्थिति मान्य है परन्तु कुछ विष्णुभक्त एक, चार, छः तथा आठ संख्या भी ऊर्ध्वपुण्ड्रों की बतलाते हैं॥६९॥

ऋजूनि स्फुटपार्श्वानि सान्तरालानि विन्यसेत् ।
ऊर्ध्वपुण्ड्राणि दण्डाब्जमत्स्यदीपनिभानि च ॥७०॥

ये ऊर्ध्वपुण्ड्र आकार में सीधे होने के साथ साथ इनकी दोनों रेखा या वस्तुएं स्पष्ट होनी चाहिए तथा इनके बीच के भाग स्पष्ट अलग दिखना चाहिए तथा इनका आकार लम्बा, चक्र, अब्ज (शंख) तथा दीप के आकारों से समानता लिये हुए श्रीहरि के पादाब्ज के समान होना चाहिए॥७०॥

विष्णोरूर्ध्वतया क्षेत्रे पर्वतादौ प्रशस्तया ।
मृदोर्ध्वपुण्ड्रं देवानामन्यैर्वा छिद्रमेव वा ॥७१॥

श्रीविष्णु के पर्वतादि क्षेत्रों के प्रशस्त होने के कारण उसी पर्वतादि की मिट्टी से ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण होता है। अतः उसे ही धारण करना चाहिए। देवताओं की अर्चनाकारी अन्य कस्तूरी आदि द्रव्यों से भी ऊर्ध्वपुण्ड्र किया जाता है। मनुष्यों का ऊर्ध्वपुण्ड्र बीच में छिद्रवाला होता है तथा यहाँ मिट्टी सफेद होनी चाहिए॥७१॥

निघर्षणादि विधिवत्कृत्वा ध्यायन् जगद्गुरुम् ।
आसीनोऽङ्गुलिभिर्दद्यादूर्ध्वपुण्ड्रान् स्वयं क्रमात् ॥७२॥

विधिवत् संसार के प्रभु श्रीनारायण का ध्यान करते हुए (स्मरण करते हुए) श्वेत

मृत्तिका का सव्यहस्त के द्वारा निघर्षण कर उससे ऊर्ध्वपुण्ड्र बनाकर धारण करे। यह कार्य वह आसीन होकर स्वयं की अंगुलि में मृत्तिका से ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे॥७२॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं ललाटे तु कुर्वीत चतुरङ्गुलम् ।
उदरे हृदि कण्ठे च दशाष्टचतुरङ्गुलान् ॥७३॥

ललाट पर यह ऊर्ध्वपुण्ड्र चार अंगुल के प्रमाण का उन्नत रखना चाहिए तथा उदर, हृदय तथा कण्ठ देश पर क्रमशः दस, आठ तथा चतुरंगुल प्रमाण का रखना चाहिए॥७३॥

दक्षिणोदरबाह्वंसेष्वेवं त्रीणीतरस्य च ।
आद्यवत् पृष्ठतो द्वे च मूर्ध्नि चैवं त्रयोदश ॥७४॥

उदर के दक्षिण भाग पर, दक्षिण बाहु तथा स्कन्ध पर तथा उदर के वामभाग, बाहु तथा स्कन्ध पर इसी क्रम से दस, आठ तथा चार अंगुलों वाले ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे। ललाट के ऊर्ध्वपुण्ड्र की तरह ही पृष्ट देश में दो तथा मूर्धा पर एक ऊर्ध्वपुण्ड्र रखें। इसी प्रकार शरीर पर इनकी संख्या तेरह रहती है॥७४॥

त्रिधा सर्वत्र विस्तारश्चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलं क्रमात् ।
उत्तमो मध्यमो हीनः पार्श्वाविङ्गुलिकौ स्मृतौ ॥७५॥

इन सभी ऊर्ध्वपुण्ड्रों में चार, तीन तथा दो अंगुलों की लम्बाई का विस्तार क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा हीन माना जाता है। अतएव इनके अतिरिक्त मध्यम तथा हीन बाजुओं में ये अंगुलि मात्र प्रमाण के रहते हैं॥७५॥

तत्र तत्र स्मरन् मन्त्रैः केशवादीन्न्यसेत् क्रमात् ।
पाणिना दक्षिणेनैव वासुदेवं त्रयोदशे ॥७६॥

इनमें जहाँ तहाँ ललाटादि प्रदेश में रहनेवाले ऊर्ध्वपुण्ड्रों में केशवादिरूपों का ध्यान करते हुए उनके मन्त्रों से क्रमशः केशवादि का वहाँ न्यास करे। इन शिर आदि त्रयोदश ऊर्ध्वपुण्ड्रों में वासुदेव मन्त्र से दक्षिण हस्त के द्वारा ही वासुदेव का न्यास करें॥७६॥

प्रणवेन तथा व्यूहैः षडष्टद्वादशाक्षरैः ।
मन्त्रैरन्यैश्च तांस्तान् वै धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रकान् ॥७७॥

प्रणव के द्वारा तथा केशव के षड् आठ तथा द्वादशाक्षर वाले अपने उपदिष्ट मन्त्रों से या उनके व्यूह चतुष्टय के त्रिगुण होकर द्वादश मन्त्रों से उन उन ऊर्ध्वपुण्ड्रों को धारण करना चाहिए॥७७॥

ततो दिव्यश्च हारिद्रं सहेम-तुलसीदलम् ।
मन्त्रेण धारयेच्चूर्णं ललाटे मस्तके तथा ॥७८॥

इसके उपरान्त श्री भगवदर्पित सुवर्ण तुलसीदल चूर्ण मिश्रित हरिद्रा चूर्ण को ललाट तथा मस्तक पर मन्त्र के साथ (अधिकारानुसारी 'श्रियो जात' इत्यादि मन्त्रादि के साथ) धारण करना चाहिए॥७८॥

पवित्राण्यब्जबीजानि शङ्खचक्राङ्कभूषणम् ।
धारयेद् वैष्णवं नाम वैष्णवाश्रयमेव वा ॥७९॥

पवित्रारोपणादि उत्सव के अवसर पर श्रीभगवान् विष्णु के द्वारा धारण किये गये तन्तुमय पद्माक्ष बीज के वलयों (तुलसी काष्ठ निर्मित अक्ष वलय और अन्य वैष्णवों के इष्ट कण्ठी आदि को) तथा शंख चक्रादि से अङ्कित मुद्रिकादिभूषणों को जो वैष्णवाश्रय होकर नाम से भी वैष्णव भूषण हो गये हों तथा भगवत्सम्बन्धित भूषणों को धारण करना चाहिए॥७९॥

अयुक्सूत्रैर्व्यतिस्यूतं धारयेत् कटिबन्धनम् ।
कौपीनं वस्त्रयुग्मञ्च यथार्हमितराणि च ॥८०॥

उसे अयुग्म या तीन सूत्रों से बट कर बनाया हुआ कटिसूत्र का धारण करना चाहिए, कौपीन के दो वस्त्रखण्डों को रखना चाहिए तथा यथायोग्य आवश्यकतानुरूप अन्य वस्त्रों (उष्णीष आदि) को शरीर पर धारण करना चाहिए॥८०॥

लक्षणानि स्फुटान्येव क्रियासिद्धिकराणि तु ।
धारयेन्नोपहन्येत कदाचित् किङ्करादिभिः ॥८१॥

शंख, चक्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि लक्षणों को स्पष्ट रूप में प्रकट होने वाले आकारों में धारण करने से ये क्रियाओं के सिद्धि-कारक भगवान् श्रीविष्णु के किंकरभाव की योग्यता के सम्पादक होकर भी रहने से इनका धारण करना इष्ट है जिससे कभी भी यम देवता के किङ्कर दूतादि से बाधा नहीं होती है॥८१॥

सत्सेवाधिकार–

दण्डवत्प्रणमेद् भूमावुपेत्य गुरुमन्वहम् ।
दिशे वाऽपि नमस्कुर्याद् यत्रासौ वसति स्वयम् ॥८२॥
आचार्यायाहरेदर्थानात्मानञ्च निवेदयेत् ।
तदधीनश्च वर्तेत साक्षान्नारायणो हि सः ॥८३॥

अपने अहंकार को हटाकर प्रतिदिन अपने उपदेष्टा पूज्य गुरू को दण्डवत् प्रणाम पृथ्वी पर झुककर करना चाहिए अथवा जिस स्थान पर वह निवास करता हो उसी दिशा को गुरु का आवास स्थान मानकर (गुरु के न मिलने पर) प्रणाम कर लेना

चाहिए। अपने आचार्य के लिये धनादि देने को लावे तथा अपना परिचय निवेदन कर उनकी आज्ञा का अनुसरण कर स्थित रहे, क्योंकि आचार्य स्वयं नारायण स्वरूप होता है। (आशय यह कि भगवद्विषयक सारी वृत्तियां तथा श्रद्धा को गुरु के लिये भी किया जाना चाहिये)॥८२-८३॥

कुर्वीत परमां भक्तिं गुरौ तत्प्रियवत्सलः ।
तदनिष्टापवादी च तन्नामगुणहर्षितः ॥८४॥

आचार्य का भक्तवत्सल होकर अपने पूज्य गुरु के प्रति परम भक्ति रखे तथा अपनी ओर से गुरु के अनिष्ट का विरोध करे तथा उनके वचन,नाम तथा गुणों का अनुवाद सुनकर प्रसन्नता दिखलाए॥८४॥

नित्यं गुरुमुपासीत तद्वचःश्रवणोत्सुकः ।
विग्रहालोकनपरस्तस्यैवाज्ञाप्रतीक्षकः ॥८५॥

नित्य ही वह अपने आचार्य या उपदेष्टा गुरु की उपासना करता रहे तथा उनके कथन (उपदेश वचन) को सुनने को उत्सुक रहे। उनके शरीर की सेवा में सदैव तत्पर रहे तथा उनके द्वारा दी जाने वाली आज्ञाओं की सदा प्रतीक्षा करता रहे॥८५॥

प्रक्षाल्य चरणौ पात्रे प्रणिपत्योपयुज्य च ।
नित्यं विधिवदर्ध्याद्यैरादृतोऽभ्यर्च्चयेद् गुरुम् ॥८६॥

वह अपने आचार्य के चरणों को पात्र में स्थापित कर उन्हें प्रक्षालित करे तथा दण्डवत् प्रणाम कर पादप्रक्षालन के जल का आचमन कर ग्रहण करे तथा प्रतिदिन अर्घ्यादि लेकर आदर करते हुए आचार्य का अर्चन करे॥८६॥

इच्छाप्रकृत्यनुगुणैरूपचारैः सदोचितैः ।
भजन्नवहितश्चात्र हितमावेदयेद् रहः ॥८७॥

वह सदा उनकी इच्छा तथा प्रकृति के अनुरूप उपचारों से सेवा करे तथा सावधानीपूर्वक रहते हुए आचार्य के हितों को अलग एकान्त होने पर उन्हें बतलावे॥८७॥

यथानुजीवी नृपतिं यथा भक्तस्तु दैवतम् ।
तथैव देशिकं शिष्यः सेवेत विनयान्वितः ॥८८॥

---

१ आचार्य भगवद्रूप है। यह पारम्परिक वचन है-'साक्षान्नारायणो देवः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम् । मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्याच्छास्त्रपाणिना॥' अतएव भगवद्विषयक वृत्ति के समान उसका आचार्य के प्रति भी आचरण प्रमाण सम्मत है।

जैसे कोई राजसेवक अपने स्वामी राजा का अथवा जैसे कोई भक्त अपने इष्टदेव की विनयपूर्वक सेवा करता रहता है उसी प्रकार वह शिष्य अपने देशिक (गुरु) की सेवा करे॥८८॥

स्नातश्च गुरुणा यत्र तीर्थं नान्यत्ततोऽधिकम् ।
यच्च कर्म तदर्थन्तद्विष्णोराराधनात् परम् ॥८९॥

अपने गुरु ने जिस जलाशय (नदी, सरोवर या कूप) में स्नान किये उससे अधिक अन्य श्रेष्ठ तीर्थ नहीं हैं[1] तथा जो भी कार्य उनके लिये किया जाता है वह स्वयं श्रीविष्णु की आराधना के समान श्रेष्ठ कार्य है॥८९॥

अपदिश्य पितॄन् देवान् गुरौ यत् प्रतिपाद्यते ।
देश-काल-क्रिया-मन्त्र-निरपेक्षं तदक्षयम् ॥९०॥

अपने पितरों तथा देवताओं को भी न देते हुए जो हव्य कव्य पदार्थ आचार्य को प्रदान किया जाता है वह देश, काल, क्रिया तथा मन्त्रों की बिना अपेक्षा किये हुए भी अक्षय होता है॥९०॥

आत्मनो ह्यतिनीचस्य योगिध्येयपदार्हताम् ।
कृपयैवोपकर्त्तारमाचार्यं संस्मरेत् सदा ॥९१॥

अतिशय हीनात्मा को भी योगिजन से ध्यान करने (प्राप्तव्य) योग्य पद की योग्यता को जो अपनी करुणामयी कृपा के द्वारा उपदेशों के उपकार से शक्य बनाता है, अतः ऐसे उपदेष्टा आचार्य का सदैव स्मरण करना चाहिए॥९१॥

स्वयं देहानुकूलानि धर्मार्थौपयिकानि च ।
कुर्यादप्रतिषिद्धानि गुरोः कर्माण्यशेषतः ॥९२॥

वह सदा आचार्य के शरीर के अनुकूल पादसंवाहन आदि सेवा तथा धर्म और अर्थ के उपयुक्त अग्नि परिचर्या देवपूजन आदि शास्त्र के अनुगत तथा अप्रतिबिद्ध कर्मों को स्वयं सम्पन्न करे॥९२॥

योऽसौ मन्त्रवरं प्रादात् संसारोच्छेदसाधनम् ।
प्रतीच्छेद् गुरुवर्यस्य तस्योच्छिष्टं सुपावनम् ॥९३॥

जो आचार्य मोक्ष के हेतुभूत श्रेष्ठ मन्त्र को प्रदान करता है उस आचार्य का पवित्रभूत उच्छिष्ट प्रासादं पवित्र भगवत्प्रसादवत् आचार्यके वदनसे स्पष्ट अन्नादि को स्वीकार करे॥९३॥

---

[1] गुरु के स्नान से पवित्र तीर्थ का भागवत् में इस प्रकार माहात्म्य दिखलाया है— भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता ॥" अतएव ऐसे पवित्रभूत जल से स्नान करना आचार तथा विनयाचार भी शास्त्रसम्मत है।

ये चोपकुर्वते ज्ञानं किमप्यच्युतसंश्रयम् ।
विनोच्छिष्टाशनं कुर्याद् वृत्तिं तेष्वपि गौरवात् ॥९४॥

श्रीमद्भगवान् अच्युत विषयक मोक्ष साधक ज्ञान का जिस गुरु के उच्छिष्टाशन के कर्म से उपकार होता है या ऐसे ज्ञान को जो प्रदान करता है, ऐसे अन्य गुरुजन में उच्छिष्टाशन से वर्जित अपने गुरु के समान ही वृत्ति का आचरण करे॥९४॥

गुरोश्च पत्नीपुत्रादिष्वन्येष्वप्यमलात्मसु ।
कुर्यादाचार्यवद्वृत्तिं तत्र तत्र व्यवस्थया ॥९५॥

अपने पूज्य गुरु की पत्नी तथा पुत्रादि भ्राता आदि तथा उनके अंतरंग ऐसे शिष्टजन सहृदयादि निर्मल स्वभाव वाले हों तो उन सभी में यथा पर्याय उच्छिष्टाशनादिवर्ज्य पादोपसंग्रहणादि आचार का पालन करे॥९५॥

आचार्योऽपि तथा शिष्यं स्निग्धो हितपरः सदा ।
प्रबोध्य बोधनीयानि वृत्तिमाचारयेत् स्वयम् ॥९६॥

गुरु भी विनयादि सम्पन्न शिष्य के प्रति कृपापूर्ण तथा सदैव शिष्यहित की चिन्ता में रहकर उन्हें बतलाने योग्य सभी विषयों का उपदेश देते हुए सदा प्रबुद्ध करे तथा स्वयं अपनी वृत्ति का यापन करे॥९६॥

निजधर्मानुरोधेन वैष्णवैरेव वैष्णवः ।
कुर्यात् सर्वाणि कार्याणि न कदाचिदवैष्णवैः ॥९७॥
अधिकैः सदृशैर्वाऽपि कुयदिव तु सङ्गमम् ।
हीनाश्च नावमन्येत न च दोषं विभावयेत् ॥९८॥

वह शिष्य अपने से अधिक योग्य अथवा अपने समान बुद्धिवाले अन्य शिष्यों की संगति रखे। वह अपने से कम योग्यता या स्थिति वालों की अवहेलना न करे और न ही उनमें दोषों की चिन्ता या निदर्शन करे॥९८॥

वृद्धानाचारसम्पन्नान् विष्णुभक्तान् दृढव्रतान् ।
सतः सत्सेवनपरान्नित्यं सेवेत सन्नतः ॥९९॥

वह सदा विनम्र भाव से ऐसे सन्तजन की जो श्रीहरि के भक्त तथा इष्ट के प्रति दृढ़ आस्था एवं व्रतशील रहते हो आचार सम्पन्न हों तथा सज्जनों के सेवी हों तो उनका सदा सेवन (सेवा) करना चाहिए॥९९॥

---

१ इस विषय में विहगेन्द्रसंहिता का यह वचन-'आचार्यपत्नीं पुत्रं वा मातापितरौ सोदरम् । आचार्यमेव मन्येत अन्यथा नाशमाप्नुयात् ॥''

एवं स्वकर्मणि ज्ञाने भक्तौ च परिनिष्ठितः ।
वैराग्येण च संयुक्तो न चेह जायते पुनः ॥१००॥

इस प्रकार वह अपने विहित आचारों में इष्ट के दृष्टज्ञान तथा भक्ति वैराग्यादि में परिपक्व या दृढ़ धारणा रखकर वर्तत करने पर पुनः इस लोक में जन्म ग्रहण नहीं करता है॥१००॥

(इति सत्सेवनाधिकारः)

इति श्रीभारद्वाजसंहितायां न्यासोपदेशो तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

(भारद्वाज संहिता के न्यासोपदेश का तृतीय अध्याय समाप्त)

अथ चतुर्थोऽध्यायः

प्रीतिरूपाँस्तथा विष्णोः स्वधर्मानाचरेद् यथा ।
तथैवाप्रीतिरूपाणि प्रतिषिद्धानि वर्जयेत् ॥१॥

प्रपत्ति या न्यास-योग में स्थित साधक भक्त को अपने इष्टभूत श्रीविष्णु के प्रीतिरूप या प्रीतिकारक स्वधर्म का आचरण जैसे इष्ट होता है उनका अनुगमन करे वैसे ही उन्हें अप्रीतिरूप जो प्रतिषिद्ध धर्म है उनको निषिद्ध मान कर वह उनका परित्याग भी करे॥१॥

विष्णोर्ध्यानप्रणामार्चास्तुतिचिह्नादिवर्जितम् ।
समारब्धन्तु यत् कर्म तत्कर्म विफलं भवेत् ॥२॥

जिस धर्माचरणभूत कर्म में श्रीविष्णु के ध्यान, प्रणाम, अर्चन, स्तुति तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र जैसे चिह्न का विधान न रहे और यदि ऐसा कोई कर्म आरम्भ किया गया हो तो वह कर्म निष्फल होता है॥२॥

विष्वक्सेनः स्मृतो नेता भगवाँच्छुद्धकर्मणाम् ।
तस्मान्नान्यमुपासीत कर्मणां विघ्नशान्तये ॥३॥

आरब्ध एवं अनुष्ठित सभी शुद्धकर्मों के भगवान् विष्यक्-सेन (श्रीविष्णु) ही प्रभु या पूर्णकर्ता माने गये हैं। अतएव विघ्नादि की शान्ति हेतु भी अन्य देवता की उपासना नहीं करना चाहिए॥३॥

ब्रह्मारुद्रदिगीशार्कतच्छक्तिप्रसवादयः ।
नित्यमभ्यर्च्यने वर्ज्याः कामोऽपि स्यान्न तन्मुखः ॥४॥

ब्रह्मा, रुद्र, दिक्पाल, सूर्य, इन ब्रह्मादि की शक्तियां (मातृकाएं) तथा इन देवगणों के पुत्रादि देवगणों की नित्य अर्चा (कर्मविशेष में कभी अपेक्षित होने पर भी) वर्जित मानी गयी है। अतएव काम्य कर्म के रहने की अपेक्षा पर भी इनकी अर्चा के अभिमुख न रहे॥४॥

न जातु परमां वृत्तिं कुर्वीत विरसाशयः ।
प्रमादालस्यनास्तिक्यकामाद्यैर्न च हापयेत् ॥५॥

इस नित्यार्चन की निष्ठा गयी वृत्ति को भक्तिहीन भाव से कभी न रखे तथा उसे

प्रमाद, आलस्य नास्तिक बुद्धि के काम क्रोध आदि के कारण भी कभी न छोड़े (क्योंकि यह चर्या नित्यविधि है, अपरिहार्य है)॥५॥

देश-काल-गुणादीनां विना पापेन संविदः ।
आस्त्रीभ्यश्चाखिलाचारान्नातिक्रमेत् कदाचन ॥६॥

वह देश, काल तथा कुलादि के निर्धारित आचारों को बिना निषिद्ध किये हुए तथा स्त्रियों के भी इसी प्रकार के विहित आचारों का उल्लंघन (भी) न करे॥६॥

न वृत्तेरधिकामृद्धिं न मृत्युं न च जीवितम् ।
न चाप्रशस्तान् विषयानिच्छेदिह परत्र वा ॥७॥

इस लोक में वह अपनी वृत्ति से अधिक समृद्धिकी मृत्यु की या जीवन की अभिलाषा न करे। इसी प्रकार वह वेदादि से निषिद्ध अप्रशस्त विषयों की इस या परलोक के विषय में भी अभिलाषा न रखे॥७॥

न पापेन न पुण्येन नात्यायासेन कर्मणा ।
सम्पदां सङ्ग्रहं कुर्याद्विपदाञ्च प्रतिक्रियाम् ॥८॥

वह अपनी सम्पत्ति का संग्रह तथा आपत्तियों का प्रतीकार चौर्य या हिंसादि कृत्यों के कारण पापों के द्वारा प्राप्त सम्पत्ति कारणभूत लक्ष्मीव्रतादि पुण्याचरणों के द्वारा अथवा अविहित या प्रतिषिद्ध काम्यकर्मों को अतिशय प्रयत्नों के द्वारा सम्पादित नहीं करे। (विहित तथा अप्रतिषिद्ध ऐसे कर्म जो अतिशय प्रयासकारी न हो-उन्हीं से सम्पत्ति का संग्रह तथा विपत्ति का प्रतीकार करना चाहिए)॥८॥

विनैव प्रतिषिद्धेन सर्वार्थान् साधयेत् सुधीः ।
नोपेक्षेत च भूतानां व्यसनं शक्यवारणम् ॥९॥

उत्तमबुद्धि सम्पन्न पुरुष बिना किसी प्रतिषिद्ध कर्म के आचरण के अपने तथा आचार्यादि के सभी अभीष्ट अर्थों की सिद्धि करे। तथा असद्भूत चेतन के जो स्वयं के द्वारा निवारण योग्य व्यसन (कष्ट विपत्तियां) की उपेक्षा न करे (अर्थात् शक्य भूतादि व्यसनों की संभव विपत्तियों को स्वयं ही दूर करने का उद्यम करे) किन्तु पूज्य गुरु आदि सत्पुरुषों की अशक्य विपत्तियों के निवारणार्थ स्वयं के अतिशय प्रयास के द्वारा भी निवारण किया जाना उचित है॥९॥

न विषज्ज्वरभूतादिहरणं स्तम्भनादि च ।
नाद्भुतानि तथान्यानि साधयेत् सत्वसंश्रयः ॥१०॥

वह सत्वादि का आश्रय या शक्ति को प्राप्त कर उसके द्वारा न सर्पादि के विष या ज्वरादि व्याधि, ब्रह्मराक्षस आदि का मन्त्रों से निवारण, अग्नि तथा जल का

स्तम्भन, उच्चाटन आदि अन्य अद्भूत कर्मों की साधना न करे।।१०।।

न विपत्तिषु वैकल्यं नोदयेषु समुन्नतिम् ।
न कामेषु प्रसक्तिञ्च भजेदच्युतमानसः ।।११।।

वह विपत्ति के अवसर पर अधीरता (वैक्लव्य) तथा उदय एव उन्नति की दशाओं में उन्नतभाव न रखे। वह भोगादि में अतिशय संगभाव भी न रखकर एकाग्रमन से सदा बिना स्थितियों के प्रभावों के श्री अच्युत का भजन करता रहे।।११।।

विनिन्दितः प्रशस्तो वा विमतः सम्मतोऽपि वा ।
विलुप्तोऽभ्यर्चितो वापि विक्रियेत न तत्ववित् ।।१२।।

वह तत्वभूत श्रीविष्णु का स्मरण तथा ज्ञान रखते हुए अपनी दुर्जनों के द्वारा निन्दा के किये जाने या सद्गुणों के कारण स्तुति किये जाने, किसी के अविश्वास से न चाहने पर अथवा किसी के विश्वासपात्र हो जाने की स्थिति में, किसी से अपमानित (विलप्त) अथवा आदर प्रदान करने की दशा में (को प्राप्त करने पर) हर्ष या शोकादि विकारों को प्राप्त न करे।।१२।।

न च क्रियान्तरङ्गाणां नायस्येदप्यसम्भवे ।
हानिं निवेद्य देवाय मनसैव प्रपूरयेत् ।।१३।।

वह अपने इष्टदेव की अर्चना में अपेक्षित द्रव्यों के सम्भव या प्राप्त न होने पर अधिक प्रयास न करे या बिल्कुल ही न मिलने पर अधिक प्रयास न करे या बिल्कुल ही न मिलने पर दुष्करायास भी न करते हुए इष्टदेव को उस पदार्थ का अभाव निवेदित करते हुए केवल उस पदार्थ को मन से निवेदित कर दे (तथा वह न प्राप्त होने वाले पदार्थों की मानसिक भाव से पूर्ति कर लेवे)।।१३।।

वर्जयेत् प्रतिषिद्धानि सर्वाण्यस्खलितः शुचिः ।
प्रवृत्तेः कारणञ्चात्र कामक्रोधादिकं त्यजेत् ।।१४।।

वह पवित्रभाव में स्थित रहते हुए बिना किसी अर्चनादि की त्रुटि करते हुए सभी निषिद्ध कार्यों तथा पदार्थों का परित्याग कर दे तथा इन प्रतिषिद्धों में अपनी प्रवृत्ति जाने के कारणभूत काम तथा क्रोधादि की वृत्तियों का भी वह परित्याग कर देवे।।१४।।

अगम्यागमनं हिंसामभक्ष्याणाञ्च भक्षणम् ।
असत्यवचनं स्तेयं तद्वत्सङ्गांश्च वर्जयेत् ।।१५।।

वह परदारादि अगम्यगमन, हिंसादि कर्मों, अभक्ष्यपदार्थों का भक्षण, असत्य सम्भाषण जैसे कर्मों, चोरी आदि दुष्कर्मों (पापाचरण) को तथा ऐसे कार्यों के करनेवालों की संगति का भी परित्याग कर दे।।१५।।

पातकानि समस्तानि गुरूणि च लघूनि च ।
विभोः कालुष्यकारीणि मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१६॥

वह गुरु तथा लघु रूपवाले सभी पातकों को भी जो इष्टदेव के प्रति मन में कलुषता उत्पन्न करते हो तो ऐसे कार्यों की मन से भी चिन्तना छोड़ देवे॥१६॥

इति विहिताचार विरुद्धवर्जन

ज्ञानन्तु स्वपरोपायफलान्वयविरोधिनाम् ।
अन्यथा विपरीतं वा ज्ञानं हानिकरं परम् ॥१७॥

वह ऐसे ज्ञान को (दृष्टि को) जिसमें प्रत्यगात्म स्व तथा प्राप्य ब्रह्म के उपाय, फल तथा सम्बन्ध के विरोधि अन्यथाज्ञान या विपरीतज्ञान को अतिशय हानिकारक समझे॥१७॥

छन्दांसि सरहस्यानि दिव्यशास्त्रान्विताः स्मृतीः ।
न जातु विचिकित्सीत पुराणादि च सात्विकम् ॥१८॥

वह रहस्यों से सम्पन्न वेदों तथा उपनिषद् आदि की, दिव्य शास्त्र पंचरात्र आगम आदि तथा शास्त्रानुगत स्मृतियों की तथा सात्विक पुराणों (श्री विष्णुपुराण तथा श्रीमद्‌भागवतादि) आदि की न तो निन्दा करे न व्यर्थ ही उनके वचनों पर संशय या अप्रासंगिक विवेचन ही करे॥१८॥

शरण्यमिज्यं लक्ष्मीशं सदा सेव्यमनिच्छताम् ।
नेच्छेद् दृष्टिं कुदृष्टीनां सुधीः श्रुत्यर्थनिर्णयात् ॥१९॥

जो परमेश शरणागत की रक्षण करने में समर्थ है तथा जिससे यज्ञादि सम्पन्न होते हैं ऐसे श्री लक्ष्मीपति की सेवा को न चाहने वाले तथा उनके ज्ञान को न रखनेवाले को वह पुराण, इतिहास, पंचरात्र तथा श्रुत्यादि के अर्थों के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए न चाहे और न ही संगति में रहे॥१९॥

ज्ञानं ज्ञेयञ्च तत्वेन कारणं चाच्युतं परम् ।
अजानद्भिर्वृथा नीतान् नाश्रयेन्न्यायविस्तरान् ॥२०॥

जिनसे श्रीहरि जाने जाते हो ऐसे ज्ञान, शास्त्ररूप, ज्ञेय तथा तात्विकभूत इस जगत् के जो कारणभूत तथा इन सभी से जो परे भी हैं वह श्री अच्युत ही हैं, यह न जानने वाले पण्डितों के साथ न्याय तथा उनके विस्तरों को व्यर्थ या बिना ही हेतु या अर्थ के

दिखलाने वाले समझ कर उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए (परन्तु तात्विक न्यायपरिशुद्ध ऐसी वस्तु की सहमति रखे जो कुदृष्टि से रहित हो॥२०॥

प्रकृतिं पुरुषं योगं परं पाप्यञ्च माधवम् ।
अन्यथा मन्यमानानां स्मृतीश्च परिवर्जयेत् ॥२१॥

त्रिगुणात्मिक स्वरूप वाली प्रकृति तथा चिद्विशिष्ट पुरुष के सम्बन्ध अथवा जीवात्म परमात्म सम्बन्ध को मुक्त्युपाय से प्राप्य माधव से अन्यथा या दूसरे कार्यादि से प्राप्य मोक्ष को बतलाने वाले सांख्य, योग दर्शन, स्मृति आदि को भी (श्रीहरि की भक्ति के तथा सिद्धान्त के प्रतिकूल समझते हुए) अनन्यभाव के प्रति बाधक समझना चाहिए॥२१॥

नाद्रियेत् पुराणादीन् राजसाँस्तामसाँस्तथा ।
अनीशानां परेशत्वं वृथा यत्रोपवर्ण्यते ॥२२॥

इसी तरह रजोगुण की प्रधानता तथा तमोगुण की प्रमुखता के प्रतिपादक ऐसे पुराणों को भी जिनमें ईश श्रीमन्नारायण की परमप्रभुता से भिन्न अन्य देवेश ब्रह्मादि की प्रमुखता वर्णित हो॥२२॥

तथा रुद्रेण कथितं मोहनं क्षुद्रकामदम् ।
तन्त्रं बहुविरुद्धञ्च तामसं परिवर्जयेत् ॥२३॥

इसी प्रकार तामस तत्व से अनुप्राणित श्रीरुद्र द्वारा कथित सामान्य एवं लौकिक इच्छाओं की पूर्ति करने तथा उन्हें प्रदान कर देने में समर्थ पाशुपतादि तन्त्रों को भी भगवन्निष्ठा में बाधक मानकर परिहार्य माने॥२३॥

अन्येषां त्रिदशादीनां स्तुतीर्मन्त्राँश्च वर्जयेत् ।
निबन्धनं गुणादीनां निबन्धाँश्चान्यचेतसाम् ॥२४॥

अन्य उपास्य देवगणों की स्तुति तथा उनके मन्त्रादि का भी काम्य पाठ नहीं किया जावे जिनमें उन उन देवगणों के आपदादि उद्धारक गुणों का विवरण दिया जावे तो

---

१ यद्यपि अष्टादश स्थानों में प्रमाण से वस्तु परीक्षण हेतु न्याय का स्थान महत्वपूर्ण हैं फिर भी ऐसे न्याय का कुदृष्टि को छोड़कर ग्रहण करना निरापद है। ऐसा न्याय परिशुद्ध तथा परमेश की ऐकान्त्यभावना में सहायक ही होता है अतः इसे स्वीकार करना उचित है।

२ इसका समर्थन-'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फला ज्ञेया तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥' यह मनूक्तवचन भी करता है कि राजस तथा तामस मूलक स्मृतियों के विधानों का ग्रहण उपादेय नहीं। कपिलादि की प्रणीत सांख्यदर्शन की तथा योग का भी बादरायण ने-अतएव 'एतेन योगः प्रत्युक्त' जैसे सूत्र से प्रत्याख्यान किया था। इसी तथ्य को यहाँ उपर्युक्त कारिका में दिखलाया गया है।

इष्ट प्रभुनारायण से मन को हटानेवाले हो तो उनका भी परित्याग करे॥२४॥

बाह्यं दुष्टं तमोनिष्ठं विपरीतमनर्थकम् ।
मतं न सौगतादीनां मनसाऽपि विचिन्तयेत् ॥२५॥

तथा इसी प्रकार वेदब्राह्म तथा वेदादि के विपरीत रहने वाले कुतर्ककारी तमोनिष्ठ तथा व्यर्थ के विषयों का विवेचन करनेवाले सौगतादि (बौद्धादि) धर्म तथा दर्शनादि के मत हैं उनका अत:करण को लगाकर चिन्तन नहीं करना चाहिए॥२५॥

कामं मतानि चान्येषां पश्येत् प्राज्ञोऽपनुत्तये ।
न च तेषु प्रसज्येत नानुमन्येत नाभ्यसेत् ॥२६।

चाहे बुद्धिमान् पण्डित वेद ब्राह्म मत के प्रतिपादक धर्मग्रन्थों तथा दर्शनों को उनके खण्डन के लिये ही देखें तथा उनका अध्ययन करे किन्तु वह उन उन मतों में मन को न लगाये और न उनके तर्कों का अनुमोदन मन में लाये और उनका आदरपूर्वक अध्ययन ही करे॥२६॥

इति दृष्टि-विरोधाधिकार

भक्तिविरुद्धवर्जन

अपचाराश्च विविधान् हरेर्यत्नेन वर्जयेत् ।
महानपायो माध्यस्थं किम्पुनर्विपरीतता ॥२७॥

श्रीहरि के विषय में अन्य मतों के द्वारा आक्षेपों से पूर्ण विविध चिन्तनों तथा तर्कों का प्रयत्नपूर्वक निराकरण करना चाहिए। इस कार्य में मध्यस्थता या तटस्थता और भी अनर्थकारी होती है फिर विपरीत भाव रखना तो और भी अनर्थकारी होगा॥२७॥

विष्ण्वर्चारहिते ग्रामे विष्ण्वर्चारहिते गृहे ।
न कुर्यादन्नपानादि न तत्र दिवसं वसेत् ॥२८॥

ऐसे ग्राम में जहाँ श्रीविष्णु का अर्चन न होता हो (जहाँ श्रीविष्णु का कोई स्थान या मन्दिर न हो), जिस घर में श्रीविष्णु की उपासना तथा नित्य अर्चन न होता हो वहां अन्न तथा जल ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा ऐसे स्थान पर एक दिन भी निवास या विश्राम न किया जावे॥२८॥

न च मन्त्रोपजीवी स्यान्नचाप्यर्थोपजीविकः ।
नानिवेदितभोगश्च न च निन्द्यनिवेदकः ॥२९॥

श्रीहरि का प्रपत्तिशील भक्त अपनी जीविका मन्त्रों के पाठ तथा जप करके न चलावे और न ही देवपूजक होकर रहे। वह श्रीहरि को बिना अर्पण किये भोजन करनेवाला और भगवान् को प्रसादरूप में नित्यवर्ज्य खाद्यादि को अर्पण करनेवाला भी नहीं होना चाहिए॥२९॥

वर्ज्याः पाखण्डशैवाद्यैः स्थापिताश्च तथार्चिताः ।
अन्यत्र च स्वतो बद्धा नियमात् सर्वदेवताः ॥३०॥

ऐसी भगवत् प्रतिमाएं जिन्हें वैदिक ब्राह्मण पाखण्डजन तथा अन्य शैवादि ने स्थापित तथा पूजित की हो उनकी भी पूजनादि से दूर रहना चाहिए। नियमतः तु कर्मवश सभी देवता भगवत् शरीरभाव के बिना उपासना के योग्य नहीं माने जाते हैं॥३०॥

गृहे यस्यान्यदेवार्चा व्यक्तो न च जनार्दनः ।
न तस्य किञ्चिदश्नीयादपि वेदान्तवेदिनः ॥३१॥

जिस पुरुष के घर में अन्य देवगण की पूजन में श्रीविष्णु का पूजन व्यक्त रूप में नहीं होता हो तो यदि वह वेद या वेदान्तवेत्ता विद्वान् भी (अनेक यज्ञादिं का कर्त्ता विद्वान् ब्राह्मण भी) हो तो उसके यहाँ पर (कुछ भी) अन्नादि ग्रहण नहीं करना चाहिए॥३१॥

वर्जयेदन्यदेवानामालयाद्युपसर्पणम् ।
तथा गोपुरहर्म्यार्चायानास्त्राद्यवलोकनम् ॥३२॥

इसी प्रकार श्रीविष्णु के अतिरिक्त अन्य देवताओं के मन्दिरों में दर्शनार्थ भक्ति से न तो जाना ही चाहिए और न उनके गोपुर, निवास भवन तथा रथोत्सवादि का अवलोकन या उनके त्रिशूलादि अस्त्रों की अर्चना ही करना चाहिए॥३२॥

गीतवादित्रघण्टादिशब्दानां श्रवणं तथा ।
कर्माणि च समस्तानि बाह्यान्याभ्यन्तराणि च ॥३३॥

उनके मन्दिर में होनेवाले गीत, वादन तथा घण्टादि शब्दों का श्रवण तथा वहाँ सम्पन्न होनेवाले अर्चनादि समस्त कर्म जो मन्दिर के अन्दर किये जाएं या जो मन्दिरों के बाहर हो रहे हों तो उनको भी नहीं देखना या कार्यों में सम्मिलित होना ही उचित है॥३३॥

द्रव्याणां भुक्तभोगानां स्वीकारं स्पर्शनन्तथा ।
भोगादीनां तदर्थश्चाप्यर्थानां प्रतिपादनम् ॥३४॥

उन अन्य देवताओं के द्वारा भुक्त या अर्पित (प्रसादादि) अन्यान्य अन्नादि का स्वीकार करना उनका स्पर्श करते हुए या उनके वन्दनादि में झुक कर पृथ्वी का

स्पर्श करना या उनके देवताओं को अर्पित किये जानेवाले भोग्य पदार्थों (अन्नादि पक्व या अपक्व पदार्थो) को समर्पित करना भी उचित नहीं है।।३४।।

प्रणामं स्पर्शनं सेवां स्मरणं कीर्तनं तथा ।
निन्दाञ्च तद्भक्तिपराण्यप्येतानि विवर्जयेत् ।।३५।।

इसी प्रकार उन सभी अन्य देवताओं को प्रणाम करने, उनका श्रद्धा से स्पर्श करने, उनके मन्दिरों में सम्मार्जन या सफाई के लिये उनके स्थानों को लीपने पोतने की सेवा करने, उनके स्वरूप का स्मरण या स्तुति आदि करने या अन्य देवगण को भक्ति के साथ मन से प्रणाम करने जैसी क्रियाएं भी उचित नहीं है।।३५।।

इति भक्तिविरुद्धाधिकारः

अथ लक्ष्म विरुद्धाधिकार

शङ्खचक्रोर्ध्वपुण्ड्राद्यैश्चिह्नैः प्रियतमैर्हरेः ।
रहितः सर्वधर्मेभ्यः प्रच्युतो नैनमाप्नुयात् ।।३६।।

जो श्रीनारायण के अतिशय प्रिय शङ्ख, चक्र तथा उर्ध्वपुण्ड्र आदि लक्ष्म कहे गये हैं उनसे यदि कोई दीक्षित भक्त रहित है तो वह सभी धर्मों के अधिकारों से पतित होकर अन्त में श्रीनारायण को प्राप्त करने के योग्य नहीं रह जाता है।।३६।।

चक्राम्बुजगदाशार्ङ्ग खड्गेभ्योऽन्यैर्हरेरपि ।
न लक्षणैर्दहेच्चाङ्गान्नान्यदग्धोऽर्हति क्रियाम् ।।३७।।

श्रीनारायण के लक्ष्मभूत जो शंख, चक्र, गदा तथा शार्ङ्ग और खड्ग है, इन पांचो के अतिरिक्त उनके अन्य किसी लक्ष्म से दग्ध पुरुष उनकी अर्चनादि क्रिया के योग्य किङ्करभाव भी प्राप्त करने के योग्य नहीं है।।३७।।

धारयेन्नान्यचिह्नानि विशेषेणाङ्कनं क्वचित् ।
धारणादन्यचिह्नानां महदाप्नोति किल्विषम् ।।३८।।

अन्य देवगण के चिन्हों का तथा विशेषकर शरीर पर तप्त मुद्रा के दाह चिन्हों को धारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन अन्य देवताओं के चिन्हों को धारण करने (या श्रीविष्णु के ही इन चिन्हों से भिन्न किसी लक्ष्मकी धारण करने) पर अतिशय किल्विष (ऐकान्त्यभंगरूपदोष या उसके कारण आपराधिकता) को प्राप्त करता है।।३८।।

अन्यचिह्नाङ्कितान् मर्त्यान् दूरतः परिवर्जयेत् ।
पयोऽस्थिचर्ममांसादि पशूनाञ्चातिगर्हितम् ॥३९॥

जो मनुष्य या प्राणी श्रीनारायण के शंकचक्रादि चिह्नों से अंकित नहीं हो तो उसका परित्याग करना चाहिए तथा ऐसे पशुओं का दूध अस्थि, चर्म तथा मांसादि की भी (जो अतिशय अपवित्र हैं उन्हें भी) दूर से ही परित्याग करे॥३९॥

वृक्षादीनाञ्च सर्वेषामकर्मण्यं फलादिकम् ।
अन्यचिह्नाङ्कितञ्चैव गृहक्षेत्रादिकं त्यजेत् ॥४०॥

ऐसे वृक्षादि जो अन्य चिन्हों से अंकित वृक्ष तथा लता आदि हों तो उनके फल तथा पत्रादि को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा इसी प्रकार अन्य चिन्हांकित ग्रह तथा क्षेत्रादि के रहने पर उनका भी परित्याग करना योग्य है॥४०॥

वर्तुलं तिर्यगच्छिद्रं ह्रस्वं दीर्घन्ततं तनुम् ।
वक्रं स्वरूपं बद्धाग्रं छिन्नमूलं पदच्युतम् ॥४१॥
अशुभं रूक्षमासक्तं तथानङ्गुलिकल्पितम् ।
विगन्धमपसंख्यञ्च पुण्ड्रमाहुरनर्थकम् ॥४२॥

त्रिपुण्ड्- स्वरूपादि विचार–

इसी प्रकार जो पुण्ड्र (तिलक) केवल मालाकार हो, तिरछे आकार में हो, छिद्र हीन हो, छोटे आकार का हो या बहुत बड़े आकार का हो, अपने विस्तार से न्यून या अधिक परिमाण वाला हो, अपने टेढ़े आकार में हो, असुन्दर या सीधे आकार में न हो, दोनों भौहों के मूलभाग में न मिलता हो, अपने निर्धारित स्थान से हट गया हो, जो श्वेतवर्ण के हलकेपन से युक्त होकर शुभकारी न हो, जिसके हृदय स्थान से हट गया हो, जो श्वेतवर्ण के हलकेपन से युक्त होकर शुभकारी न हो, जिसके हृदय स्थान पर धारण करने का स्थान फोड़े आदि के कारण सूखा सा रहता हो, अन्य पुण्ड्र से लगा हुआ हो, जो स्वयं की (हस्त की) अंगुलियों के द्वारा किया हुआ न हो, जो किसी गन्ध से रहित हो, निर्धारित संख्या के अनुरूप धारण किया हुआ न हो तो ऐसा 'पण्ड्' धारण करने पर भी अनर्थकारी या व्यर्थ समझना चाहिए॥४१-४२॥

न चन्दनादिभिर्गन्धैः कर्तव्यं न च भस्मना ।
न मृद्भिश्चाप्रशस्ताभिरूर्द्धपुण्ड्रं कदाचन ॥४३॥

इसे चन्दन अगर आदि गन्धों से युक्त वस्तुओं से तथा भस्म आदि के द्वारा नहीं किया जाता है तथा इसी प्रकार साधारण मिट्टी जो कि प्रशस्त न हो तो उससे भी ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण न करने (क्षेत्र या पर्वतादि की प्रशस्त मृत्तिका से ही ऊर्ध्वपुण्ड्र

किया जावे।)॥४३॥

तमसो भस्म रजसो गन्धः सत्वस्य मृत्तिका ।
तस्माद् भस्मादिभिर्नेच्छेदेकान्ती शुद्धिमात्मनः ॥४४॥

भस्म आदि पदार्थ तामसिक, गन्धयुक्त पदार्थ राजस तथा मृतिका सात्विक कारण वाली होती है, अतः नैष्ठिक वैष्णव (एकान्ती) आत्मशुद्धि के कारणभूत तिलक को स्वयं करने में भस्मादि पदार्थों की इच्छा न करे या उनका उपयोग न करे (किन्तु सात्विक मृत्तिका से ही ऊर्ध्वपुण्ड्र स्वयं सम्पादित करे)॥४४॥

रौद्रव्रतादिनियतैस्तथा मोहनतान्त्रिकैः ।
शवेन्धनकरीषादिभस्मभिः कर्म साध्यते ॥४५॥

क्योंकि रुद्रादि के उपासनादि व्रतों में उपयोग की जाने वाली तथा मोहनादि कर्मों में तान्त्रिकादिजन के उपयोग में रहनेवाली भस्म जो कि शव, ईन्धन तथा करीषादि (सूखे गोबरों) से प्राप्त होती है तथा जिससे तन्त्रादि कर्मों की साधना की जाती है। अतः ऐसी निषिद्ध भस्म से कभी ऊर्ध्वपुण्ड्र नहीं किया जावे॥४५॥

मूलजं गन्धसारादि मृगनाभ्यादि जीवजम् ।
मनःशिलादि धातूत्थं त्रयं पुण्ड्रेषु कामिनाम् ॥४६॥

किसी वृक्ष की जड़ से प्राप्त सुगन्धित द्रव्य, किसी प्राणी के शरीर से प्राप्त होने वाले कस्तूरी आदि द्रव्य तथा धातु या पत्थर से निकलने वाले मनःशिला (मैनसिल) जैसे सुगन्धित द्रव्य इन तीनों से पुण्ड्र किसी पदार्थादि के कामीजन तिकलरूप में लगाते हैं। (अतः इनसे भी ऊर्ध्वपुण्ड्र नहीं करना चाहिए)॥४६॥

कुर्याद् रक्षाविधानञ्च नान्यैः पञ्च विना मृदः ।
गोरजो गोकरीषञ्च चूर्णं हारिद्रमेव च ॥४७॥

विहित तथा ग्राह्य पांच मृदा (मिट्टियों) को छोड़कर तथा गोरज, गोबर की राख, हरिद्रा के चूर्ण तथा पांच प्रकार की मृत्तिका को छोड़कर अन्य भस्मादि से रक्षाविधान कर्म नहीं करना चाहिए॥४७॥

न च भागवतः कुर्यादूर्ध्वपुण्ड्रममृत्तिकम् ।
धारणादेव मृत्स्नायाः प्रीयते धरणीधरः ॥४८॥

बिना विहित सात्विक मृत्तिका के अन्य किसी वस्तु से भागवत वैष्णव ऊर्ध्वपुण्ड्र न करे क्योंकि मृत्तिका के तिलक मात्र के धारण से धरणीधर श्रीविष्णु तुष्ट हो जाते हैं॥४८॥

यः प्रपन्नोऽपि लक्ष्मीशं न चक्रादिभिरङ्कितः ।
न वहत्यूर्ध्वपुण्ड्रं वा नैकान्त्यन्तस्य विद्यते ॥४९॥

जो वैष्णव श्रीविष्णु के प्रति प्रपत्ति अर्पित करने के पश्चात् चक्रादि से अंकित न रहे तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण न करता हो तो उसकी श्रीहरि के प्रति एकान्तिक निष्ठा कैसे रहेगी (अतः उसे ऊर्ध्वपुण्ड्रादि अवश्य धारण करना चाहिए)।।४९।।

राजसाँस्तामसाँश्चैव व्यपदेशान् विवर्जयेत् ।
ध्रुवं व्यपेति भक्तोऽपि व्यपदेशैरसात्विकैः ।।५०।।

अतएव प्रपन्न वैष्णवों को राजस तथा तामस पदार्थों से तिलकादि के धारणादि कार्यों को नहीं करना चाहिए क्योंकि भक्त होने पर भी सात्विक पदार्थों से रहित होनेवाला वैष्णव विशेषरूप में पतित हो जाता है।।५०।।

सात्त्विकं नाम शुद्धानामशुद्धानान्तु राजसम् ।
बाह्यादितन्त्रसिद्धानां देवादीनान्तु तामसम् ।।५१।।

जो अनन्यभाव से इष्ट की अर्चना करते हो, ऐसे शुद्धजन का सात्विक अशुद्ध तथा अन्यभावादि से इष्ट की अर्चनादि करनेवाले राजस तथा अवैदिक विधियोंवाले तान्त्रिक तथा उनके द्वारा इष्ट की अर्चना करनेवालों का 'तामस' नाम कहा गया है।।५१।।

दास्यं हि नामकरणमपि तद्वाचकैर्विना ।
गुणकर्मादिभिः स्वैश्च रूढं श्लाघ्यैः सनातनम् ।।५२।।

इसी प्रकार श्रीभगवद्दास्य के बोधक शब्दों के बिना अशुद्धार्थ बोधक तथा अवैदिक नाम भी न रखें जावें। यहां शुद्ध तथा वैदिक नाम के अतिरिक्त भी अपने श्लाघ्य दास्य कर्म जो गुण तथा कर्मों के बोधक हों तो ऐसे रूढ़ तथा संकेतितार्थ वाले 'नाम' रखे जाने उचित हैं।।५२।।

युग्मैर्विवर्त्तितं रौद्रमयुग्मैर्ब्राह्ममुच्यते ।
उभयैस्तैर्व्यतिस्यूतमयुग्मैर्वैष्णवं गुणैः ।।५३।।
उपवीतं सदा ब्राह्मं वैष्णवं कटिबन्धनम् ।
उभयं धारयेद् रौद्रं साधयन् कर्म तामसम् ।।५४।।

जो युग्म भाव (दो तन्तुओं) से पूर्ण हो उसे 'रौद्र' तथा अयुग्म या तीन से पूर्ण ब्राह्म तथा इन दोनों को मिलाकर गुणोंसे बँटा हुआ हो वह वैष्णव 'उपवीतक' कहलाता है। इनमें सदा ब्राह्म तथा वैष्णव उपवीत को कटिबन्ध प्रदेश तक धारण करे इन दोनों उपवीतों को धारण करना चाहिए तथा तामस कर्मों की साधना करते समय 'रौद्र' उपवीत धारण करना चाहिए।।५३-५४।।

तामसं नग्नमेकन्तु राजसं वसनद्वयम् ।
कौपीनसहितं तत्तु सात्विकं मुनिभिः स्मृतम् ।।५५।।

शरीर पर एक वस्त्र का धारण करना 'तामस' दो वस्त्रों का धारण करना 'राजस' तथा कौपीन सहित दो वस्त्रों का धारण करना 'सात्विक' होने से सात्विक विधान से वस्त्रधारण करना अधिक उचित है॥५५॥

दर्भाक्षसूत्रवस्त्राङ्कनामपुण्ड्रविभूषणम् ।
अन्यत्तु तामसं सर्वं विशेषेण विवर्जयेत् ॥५६॥

इसी तरह जो तामस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले दर्भ, रुद्राक्ष, अन्य चिन्हादि से अंकित वस्त्रादि अथवा सूत्रादि या अयुग्म गुण (सूत्रों) से निर्मित कटिबन्धादि तथा त्रिशूलादि से या देवनामादि से अङ्कित अशुद्ध पुण्ड्रादि भूषण या त्रिशूलादि आकार के भूषण तथा इनके अतिरिक्त भी ऐसे तामस उपकरणों को ध्यान देते हुए छोड़ना उचित है॥५६॥

अन्यतन्त्रैकसिद्धानि काम्यानि विविधानि च ।
द्रव्यनामादिरूपाणि लक्षणानि विवर्जयेत् ॥५७॥

अन्य आगमों के द्वारा विहित काम्य विविध कर्मों को एवं तन्त्रमात्र में व्यवहृत पारिभाषिक द्रव्यादि तन्त्रसिद्धरूप वाले द्रव्य तथा उनके विशेष आकारों (के बोधक चिन्हादि) का भी व्यवहार न करे॥५७॥

इति लक्ष्म विरुद्धाधिकारः

गुरोरपह्नवात् त्यागात् साम्याद्विस्मरणादपि ।
लोभमोहादिभिश्चान्यैरपचारैर्विनश्यति ॥५८॥

सत्सेवाविरुद्ध

अपने गुरु के नामादि को न बतलाते हुए, उनका परित्याग करने उनकी बराबरी या तुलना करने या उन्हें विस्मृत कर देने के कारण लोभ, मोह आदि गुरु के वैभव का ज्ञान न रखकर उनके प्रति उपचार या उपेक्षाभूत तिरस्कार के भाव रखने पर शिष्य का पतन होता है॥५८॥

विशेषाद् विष्णुभक्तेषु दम्भं लोभं नृशंसताम् ।
क्रोधमीर्ष्यां मदं मानं साम्यञ्च परिवर्जयेत् ॥५९॥

विशेषरूप में जो विष्णुभक्त हैं उन्हें ही बिना धर्म का आचरण किये हुए उनको बतलानेकी मिथ्या घोषणा के दम्भों, लोभ करना, किसी दीन के प्रति करुणा न रखना, क्रोध करना तथा दूसरों से समानता को देखने का भाव भी नहीं रखना चाहिए॥५९॥

वैष्णव के दो प्रभेद-

स एकान्त्यन्यविमुखो हरिं सर्वेश्वरं प्रभुम् ।
यः समाश्रयते किञ्चित्फलमभ्यर्थयन्नरः ॥६०॥

जो भक्त मनुष्य दूसरे देवताओं से हटकर श्रीविष्णु के पाद सेवन भक्ति या उनके ज्ञान के प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हुए सर्व जगत के अधिपति श्रीहरि की प्रपत्ति या आश्रय को ग्रहण करता हो तो वह 'एकान्ती' वैष्णव कहलाता है॥६०॥

न्यस्ताशेषभरः श्रीशे यस्तु दास्यैकजीवितः ।
स एष परमैकान्ती द्वावेतौ वैष्णवौ स्मृतौ ॥६१॥

तथा जो भक्त नर अपने आत्मा के समस्त भर को श्रीहरि के प्रति अर्पित कर उसे न्यस्त करता हो और उनके दासभाव के अतिरिक्त अन्य सत्तामय स्थिति की कामना नहीं रखता हो तो ऐसा पुरुष 'परमैकान्ती' वैष्णव कहलाता है॥६१॥

अन्ये त्ववैष्णवाः सर्वे मनुष्या जिह्मदृष्टयः ।
असतस्तान् विदुर्देवास्तैः सतां नास्ति सङ्गमः ॥६२॥

इन दो प्रकार के वैष्णवो को छोड़कर शेष सभी कुटिल बुद्धि के कारण अवैष्णव माने गये हैं, जिन्हें देवगण असन्त भूत मानकर उनके साथ सन्तों के समागम को स्वीकार नहीं करते हैं॥६२॥

अवैष्णवात् स्वधर्मस्थाद् वैष्णवः स्खलितोऽपि सन् ।
श्रेयानेव हि मन्तव्यो मूलात् स न परिच्युतः ॥६३॥

जो अपने वर्ण तथा आश्रम धर्मों मे अवस्थित होने वाले किन्तु अवैष्णव हों उनकी अपेक्षा अपने धर्म तथा कर्त्तव्यों से किन्चित् स्खलित हो जानेवाला भी यदि वैष्णव है तो भी वह श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि वह अपनी मूलस्थिति से पतित नहीं है॥६३॥

स्वेशसम्बन्धविज्ञानं मूलमन्याः क्रियाः पुनः ।
तस्य शाखाः प्रशाखाश्च काश्च ता मूलवर्जिताः ॥६४॥

इसका कारण अपने इष्ट देव आराध्य श्रीविष्णु तथा उनके साथ अपने दास्यभाव का उसे ज्ञान है जो मूल माना जाता है तथा अन्य कार्य इसी मूल की शाखा, प्रशाखा तथा उपशाखाएं होती हैं ये अपने मूल से रहित होने से अर्थ नहीं (होती) रखती है॥६४॥

बाह्यानां जिह्मदृष्टीनामज्ञानां संशयात्मनाम् ।
नालोकमपि कुर्वीत न च तैः किञ्चिदाचरेत् ॥६५॥

जो अपनी विरुद्ध बुद्धि तथा दृष्टि रखने के कारण बाह्य हैं तथा जिनकी अन्यथा दृष्टि हों ऐसे अज्ञानयुक्त संशयात्मा पुरुषों को अपने वैष्णवशास्त्र का दर्शन भी बतलाना इष्ट नहीं। अतः ऐसे पुरुषों के साथ लोक व्यवहार का आदान प्रदान न रखा जावे तथा शास्त्रीय यज्ञ दानादि का व्यवहार तो बिल्कुल ही नहीं रखना चाहिए।।६५।।

प्रपन्नैश्चान्यभजनाद् युक्तापायसमन्वितैः ।
वैष्णवो वर्जयेत् सङ्गं प्रच्युतास्ते ह्यवैष्णवाः ।।६६।।

और जो शास्त्रोक्त भजनादि उपाय के साथ दूसरे इष्टदेव की प्रपत्ति में स्थित हों तो ऐसे अवैष्णव पुरुषों के साथ भी वैष्णव सङ्गति न रखे। क्योंकि जो अवैष्णव हैं वे सभी दूसरे देवगणों के भजनादि प्रपत्ति कार्यों के करने से स्खलिताचारवाले हो गये हैं।।६६।।

दैवेषु पित्र्येषु तथा धर्मार्थेष्वितरेषु च ।
अवैष्णवं न गृह्णीयात् पात्रं दानेषु कर्हिचित् ।।६७।।

देवता के उद्देश्य से तथा पितरों के श्राद्धादि प्रयोजन से एवं धर्मादि के अन्य किसी कार्यवश या लौकिक कार्यवश भी अनैकान्ती अवैष्णवजन को दानादि के पात्ररूप में न तो आमन्त्रित करे और न ही देवादि कार्यों में उन्हें सम्मिलित करे।।६७।।

न कश्चित् प्रतिगृह्णीयाद् विष्णुभक्तिविवर्जितात् ।
पानीयं पक्वमन्नञ्च विशेषेण विवर्जयेत् ।।६८।।

इसी प्रकार किसी विष्णुभक्ति से रहित पुरुष के द्वारा अर्पित जल, पक्वान्न तथा फलादि को विशेषरूप से ग्रहण नहीं करना चाहिए।।६८।।

विद्यार्थसम्प्रयोगोऽपि प्राकृतैर्न कथञ्चन ।
विवादोऽपि न कर्तव्यः क्रीडासङ्कथनानि च ।।६९।।

इसी प्रकार ऐसे अवैष्णवजनों के साथ विद्या के आदान-प्रदान या अध्ययनादि या अध्यापनादि का कार्य भी नहीं रखे, क्योंकि ये प्राकृतजन या अलग माने जाने वाले पुरुष होते हैं अतः इनके साथ शास्त्रादि विवाद तथा इष्टआलाप भी न रखा जावे।।६९।।

न चैकस्मिन् भजेत् साम्यं कर्मण्येकान्तवर्जितैः ।
न चैषां कर्म कुर्वीत न स्वकर्म च कारयेत् ।।७०।।

किसी एक लौकिक अथवा वैदिक-कर्म में इन प्राकृत तथा एकान्त वर्जित जन की समानता नहीं हो सकती है। अतएव इन अवैष्णवजन से अपने लौकिक अथवा वैदिक

कर्मों को सम्पादन नहीं करवाना चाहिए तथा न ही स्वयं इनके लौकिक अथवा वैदिक कर्मों का सम्पादन ही करना चाहिए।।७०।।

पङ्क्तौ समाजे ग्रामादौ न त्वभागवतोत्तरे ।
वसेदेकत्र भवने नैकेनाप्यसता सह ।।७१।।

अवैष्णवजन की अधिक संख्या में स्थिति वाले ग्रामों में, भोजनादि पंक्ति में, समाज (समूह) में तथा ऐसे भवनों में जहाँ ऐसे एक अवैष्णव व्यक्ति की भी स्थिति रहने पर वहां इनके साथ निवास न करे।।७१।।

प्रीत्यप्रीतिसमायोगं स्पर्शं भुक्तिं सहोषिताम् ।
स्वैरप्येकान्त्यविमुखैरघंवर्जं विवर्जयेत् ।।७२।।

अपने आत्मीय या पारिवारिक जन के साथ प्रीति या हर्ष के कल्याणादि अवसरों पर तथा अप्रीति के शोकादि अवसरों के व्यवहारार्थ उन सभी के साथ मिलने, साथ भोजन करने, एक आसन पर एक साथ बैठने आदि समागम के अवसर पर भी एकान्त्यभाव से रहित अपने जन के होने पर अघ या आशौचादि की स्थिति को छोड़कर उनके साथ अपना व्यवहारादि सम्बन्ध न रखे।।७२।।

अवैष्णवं न वन्देत नार्चयेद् विधिपूर्वकम् ।
सम्प्रश्नासनदानादि कुर्याद् वाप्यानृशंसतः ।।७३।।

अवैष्णवजन को न तो नमस्कार करे और न ही गुणशाली होने पर भी उनकी विधिपूर्वक अर्चना ही करे। उनसे कुशल मंगल के प्रश्न उन्हें आसनादि का देना आदि भी निस्संकोच भाव से न करे।।७३।।

अभक्तमच्युतस्यापि नावमन्येत कञ्चन ।
हितं वा बोधयेत् साधोर्दद्याद्वा किञ्चिदीप्सितम् ।।७४।।

परन्तु अच्युतविषयक भक्ति से रहित भी किसी भक्त की कभी भी अवहेलना या तिरस्कार नहीं करना चाहिए। यदि ऐसे साधु अवैष्णवजन सामने मिल जावें तो उनसे कुशल मंगलादि हित-संभाषण अवश्य करना चाहिए तथा उन्हें शक्ति के अनुसार इष्ट वस्तु को भी देना चाहिए।।७४।।

न च मैत्रीं प्रकुर्वीत वैष्णवः प्राकृतैः सह ।
क्वायमच्युतसक्तात्मा क्व ते विषयचञ्चलाः ।।७५।।

वैष्णव भक्त अवैष्णव प्राकृतजन के साथ मैत्री न रखे क्योंकि कहाँ तो अच्युत की भक्ति में आत्मन्यास करनेवाला वैष्णव तथा कहां वे विषय से भिन्न प्रकृति के अस्थिर भाव वाले अवैष्णव जन। (इन दोनों की समानता शक्य ही नहीं है) अतः मैत्री कैसे हो सकेगी।।७५।।

असतां गुणकर्माणि नानुमोदेत किञ्चन ।
स्मरणादपि यत्तेषां महदाप्नोति किल्विषम् ॥७६॥

अतएव ऐसे अवैष्णवजन के औदार्यादि गुणों तथा अरि-निरसनादि कर्मों की अशास्त्रविहित स्थिति का अनुमोदन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन उन अशास्त्रीय गुण कर्मों के स्मरणमात्र से महान् किल्विष उत्पन्न होता है। (अतः उनके स्मरणादि तथा अनुमोदन करने की उपेक्षा नहीं रखे॥७६॥

विशिष्टः परमैकान्ती ज्ञानवैराग्यभक्तिभिः ।
तादृशैरेव कुर्वीत सह सङ्कथनादिकम् ॥७७॥
उक्तान्येतानि सर्वाणि योऽवमन्येत मूढ़धीः ॥
स एष तमसोऽस्येति पारमैकान्त्यवर्जितः ॥७८॥

अपने ज्ञान, वैराग्य तथा भक्तिभाव के कारण एकान्ती वैष्णव अन्य सभी दूसरों की अपेक्षा विशिष्ट है, अतः ऐसे विशिष्टजन के साथ ही संकथन कुशल प्रश्नादि कार्य रखना चाहिए और जो बुद्धिहीन पुरुष इन कहे गये सभी उपदेशों की अवहलेना करता है वहीं एकान्तवर्जित होकर तमस् के पार (अतिशय तमस् के घने समुद्र में) चला जाता है॥७७-७८॥

अथ वृत्तिमिमां सम्यक् कुर्वाणो विगतव्यथः ।
विसृज्य देहं प्राप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥७९॥

तथा पूर्व में कथित विहिताचारकी वृत्ति में स्थित रहने वाला एकान्ती अपनी समस्त व्यथाओं से मुक्त होकर तथा अपने देह के छूटने पर श्रीहरि के परमपद की प्राप्ति कर लेता है॥७९॥

इति सत्सेवाविरूद्धाधिकार

अशक्तमपि च स्मर्तुमन्ते पूर्वकृतं स्मरन् ।
स्वयमेव परं धाम स्वयं नयति माधवः ॥८०॥

जब शरीर की अवसन्न दशा में परमेश्वर के स्मरण की शक्ति नहीं रहने से (अन्त समय में) ईशस्मरण न होने के कारण वैष्णवजन के भी ईश स्मरण करने में अशक्त हो जाने पर भी श्रीनारायण स्वयं ही आकर उसे अपने वैकुण्ठधाम में ले आते हैं॥८०॥

---

१ यहाँ इस कथन के समर्थन में निम्नलिखित दो पद्य दिये जा रहे हैं-'ततस्तु म्रियमाणं तं काष्ठपाषाणसन्निभम् । अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥' तथा 'यदि वातादिदोषेण मद्भक्तो माञ्च विस्मरेत् । तर्हि स्मराम्यहं भक्तं नयामि परमां गतिम् ।" इति ।

न खल्वपि दशादेशकालहेतुविपर्ययैः ।
प्रपत्तुस्त्यक्तदेहस्य परा यात्रा विहन्यते ॥८१॥

प्रपत्ति को लेने वाले वैष्णव भक्त की दशा, पुण्य-क्षेत्रादि देश, उत्तरायण आदि काल तथा इनके कारण के विपरीत रहने पर भी उसकी जब देह छूट जाए तो भी उसकी परमयात्रा में अर्चिरादिमार्ग में जाने में कोई विघ्न नहीं आता तथा वह मुक्ति को प्राप्त करता ही है॥८१॥

अर्चिरादिकया गत्या तत्र तत्रार्चितः सुरैः ।
अतीत्य लोकानभ्येति वैकुण्ठं वीतकल्मषः ॥८२॥

और वह उस अर्चिरादि मार्ग में गतिशील रहकर बीच में आनेवाले प्रत्येक विश्राम स्थल पर देवगण से पूजित अभिनन्दित होता हुआ मध्यवर्ती लोकों को पार कर निष्पापभाव से विशुद्धरूप में वैकुण्ठ पहुँच जाता है॥८२॥

अथैनममरास्तत्र सह दिव्याप्सरोगणैः ।
सोपहाराः प्रहर्षेण प्रत्त्युद्गच्छन्त्युपायताम् ॥८३॥

वहाँ पहुँचने पर देवगण दिव्य अप्सराओं के समुदाय के साथ प्रसन्न होकर उसे अपने हाथ में लिये हुए उपहारों को समर्पित कर उसकी अगवानी करते हैं॥८३॥

ततः प्राप्य जगन्नाथं प्रणिपत्य श्रियं पतिम् ।
आसीनमासने दिव्ये भक्तैर्भागवतैर्वृतम् ॥८४॥
आप्लुतः सस्मितालापमधुरालोकनामृतैः ।
पादमूलं भजत्यस्य दास्यैकानन्दनिर्भरः ॥८५॥

तब फिर वह जगदीश श्रीपति नारायण को प्राप्त करता है जो कि दिव्य देवगण तथा भागवतों से युक्त सिंहासन पर आसीन है। तब स्मित पूर्वक भाषण करते हुए तथा अपने मधुर विलोकनरूपी अमृत दृष्टियों से भर कर इष्ट के दास्यभाव के आनन्द में भरते हुए वह श्रीपति नारायण के दोनों चरणों के मूल का स्वयं सेवन करता है। (अपना मस्तक उनके चरणों पर टिका देता है)॥८४-८५॥

स च सर्वेषु लोकेषु तमेवाभ्यनुसञ्चरन् ।
सम्मोदते समगुणः कामान्नी कामरूपधृक् ॥८६॥

वह मुक्त वैष्णव भक्त आगे उन्हीं इष्टदेव के अभिमुखी भाव में रहकर वहां संचार करते हुए भगवद्गुण के समान होकर कामरूप धारी भोगवाला तथा इच्छानुरूप शरीरादि स्वरूपधारी होकर प्रसन्नता पूर्वक स्थित होता है। (उनके साथ समानरूप से भोगादि का अनुभव कर प्रसन्न होता रहता है)॥८६॥

अथेह बान्धवास्तस्य गतस्य परमां गतिम् ।
वैष्णवास्त्वभिनन्देयुः पुण्यामवभृथक्रियाम् ॥८७॥

इधर यहां भूलोक में उस प्रपन्नभक्त के बन्धुबांधव जन परमगति प्राप्त करने वाले उस वैष्णव का अभिनन्दन कर पुण्यभूत संस्कारान्त में होने वाले अवभूत स्नान को सम्पन्न करते हैं॥८७॥

क्रियते चास्य पुत्राद्यैर्यत् किमप्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तत् सर्वं प्रियभक्तस्य विष्णोः प्रीतिकरं परम् ॥८८॥

और तब इसके पुत्रादि के द्वारा संस्काररूप में किये गये और्ध्वदेहिक विधान आदि क्रियाएँ भी भक्तिप्रिय श्रीविष्णु की परमप्रीति करनेवाली हो जाती हैं॥८८॥

गुरूणामन्तिमतिथौ जन्मर्क्षे श्रवणेऽपि वा ।
हरिमभ्यर्चयेद् भक्त्या तद्भक्तांश्च विशेषतः ॥८९॥

ऐसे परम वैष्णव गुरु की अन्तिम या पुण्यतिथि के अवसर पर जन्म नक्षत्र के या सुनी गयी उनकी तिथि के दिन भक्तिपूर्वक श्रीहरि की अर्चना करे तथा उनके शिष्य और भक्तजन इस कार्य पर ध्यान विशेषरूप से रखे॥८९॥

ज्ञानकर्मक्रियामन्त्रध्यानयोगगतिक्रमाः ।
विस्तरेण मया पूर्वमुक्तास्तत्रापि ते समाः ॥९०॥

श्रीहरि के प्रति प्रपत्तिभाव रखने के बाद जिन कार्यों को मैंने यहां पूर्वमें विस्तारसे कहा था उन सभी ज्ञान, कर्म, क्रिया, मन्त्र, ध्यानयोग, गति तथा क्रमों का अनुसरण करना चाहिए। यहां भी इसी प्रकार इनका अनुगमन समान भाव से किया जाए॥९०॥

उपासनाविधौ धर्मा ये चान्यैः परिकीर्तिताः ।
न्यस्तात्मानस्तु तान् सर्वान् फलान्येव निबोधत ॥९१॥

और न्यस्त या प्रपत्तिभाव करनेवालों के विषय में अन्य पूज्य मुनिजन के द्वारा उपासना के विधानों में जिन उपायादि का कथन किया गया है उन सभी उपायों को भी जानना उचित है॥९१॥

अभ्यर्थितो जगद्धात्र्या श्रिया नारायणः स्वयम् ।
उपादिशदिमं योगमिति मे नारदाच्छ्रुतम् ॥९२॥

इस योग का सम्प्रदायिक क्रम पूर्व में स्वयं संसार की विधात्री श्री लक्ष्मी के श्रीमहाविष्णु से प्रार्थना करने पर इस न्यासयोग का उपदेश दिया था जिसे मैंने श्री नारद ऋषि से सुनकर ग्रहण किया है॥९२॥

इति हस्तपदे साङ्ख्यं शास्त्रं गुह्यतमं परम् ।
शिरश्चैतन्मयोक्तायाः संहिताया भविष्यति ॥९३॥

इस प्रकार इस देवगण से भी अज्ञात गुह्यतम सांख्य शास्त्र का मैंने शीर्षभूत सिद्धान्त यह न्यासयोग बतलाया जो मेरे द्वारा कही गयी संहिता का रूप लेकर भविष्य में प्रवृत्त होगा॥९३॥

संहितोपनिषद्यस्मिञ्छास्त्रे ज्ञेयान्यनुक्रमात् ।
आदौ न्यासः फलञ्चास्य तदुपायश्च सङ्ग्रहः ॥९४॥

इस प्रकार इस भारद्वाज संहिता के रूपवाले गुह्यतम उपनिषद्‌भूत इस शास्त्र में क्रमशः मैंने न्यासयोग, न्यास का फल तथा उसके उपायों को संग्रह कर चार अध्यायों में प्रतिपादित शास्त्र में बतलाया है॥९४॥

ततो न्यासस्य चाङ्गानां निर्णयः सविरोधिनाम् ।
ततश्च फलरूपाया वृत्तेरङ्गानि विस्तरात् ॥९५॥

और इसमें न्यास तथा उसके अंगों का उनके विपरीत भावों के साथ निर्णय दिखलाया है तथा फलभूत वृत्तियों तथा उनके अंगों का भी विस्तार से निरूपण किया गया है॥९५॥

वृत्यङ्गमेवञ्च ततो निन्द्यहानं गतिस्तथा ।
एवं चतुर्भिरध्यायैः कथितानि विशेषतः ॥९६॥

इसी क्रम में वृत्ति तथा उसके अंगों का विचार, इसके बाद प्रतिषिद्ध विवर्जन का विवेचन किया गया। इन सभी को विशेषरूप से चार अध्यायों के द्वारा बतलाया गया॥९६॥

इत्थं प्रसादाद् देवर्षेर्नारदस्यामितौजसः ।
कृतोऽत्र वेद-वेदान्त-पञ्चरात्रार्थनिर्णयः ॥९७॥

इस प्रकार यहां अमितौजाः महर्षि नारद मुनि के प्रसाद से मैंने वेद तथा वेदान्त के अनुगत पञ्चरात्रआगम के अर्थों का (तात्पर्यों का) शास्त्रीय निश्चय दिखलाया है॥९७॥

इत्येतत् परमं गुह्यं श्रुत्वा भागवतोत्तमाः ।
मुनयः पूजयाञ्चक्रुर्भारद्वाजं तपोनिधिम् ॥९८॥

इस प्रकार वेद ग्रहण के तुल्य परम रहस्यों से पूर्ण पञ्चरात्र के अर्थों को सुनकर परमभागवत मुनिगण ने तपोनिधि भारद्वाज की प्रसन्नता से अर्चना की॥९८॥

श्रुत्वादौ नारदात् सम्यग्भारद्वाजोऽर्थसङ्ग्रहम् ।
महतीं संहितामेता चकार मुनिचोदितः ॥९९॥

प्रथम बार श्री देवर्षि नारद से पञ्चरात्र आगम के अर्थों का श्रवण कर बाद में नारदमुनि की (ही) प्रेरणा से इस विस्तीर्ण संहिता की मैंने रचना की॥९९॥

यश्चेमां संहितां पुण्यां शृणुयाच्छ्रावयेत वा ।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वकामान् समश्नुते ॥१००॥

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायां न्यासोपदेशो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अतएव जो इस पुण्यदात्री तथा सभी पातकों को दूर करनेवाली भारद्वाज प्रोक्त संहिता का नियतमन से वह श्रवण करता है, वह सद्यः सभी पातकों से मुक्त होकर सभी इच्छाओं (कामनाओं) की प्राप्ति करेगा॥१००॥

नारदपञ्चरात्र की भारद्वाजसंहिता में न्यासोपदेश नामक चतुर्थाध्याय की तत्वप्रकाशिका नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त

अथ भारद्वाजसंहितायाः परिशिष्टे

अथ प्रथमोऽध्यायः

भूय एवार्षिभिः पृष्टो भरद्वाजस्तपोनिधिः ।
अनुक्तानब्रवीद्धर्मान् उक्ताँश्चैव प्रसादयन् ॥१॥

न्यासोपदेश को सुनकर ऋषिगणों के द्वारा भरद्वाजमुनि से इन्हीं विषयों पर पूछे गये प्रश्नों को सुनकर पूर्व में कथित न्यासोपदेश को और अधिक स्पष्ट करने के साथ इसी क्रम में अनुक्त तत्वों को भी दिखलाते हुए भरद्वाज मुनि पुनः उनसे कहने लगे॥१॥

धर्मो वर्णाश्रमादीनां कात्स्न्र्येन मुनिसत्तमाः ।
शिष्टो व्याससमासाभ्यामार्षै-र्दिव्यैस्तथागमैः ॥२॥

हे मुनिजन! वर्ण तथा आश्रम आदि के धर्मों को ऋषि प्रोक्त वेदादि, धर्मशास्त्र तथा दिव्यआगमों के द्वारा (पञ्चरात्र संहिता आदि से विस्तार तथा संक्षेप में दिखलाया या उपदिष्ट किया गया है) तथा कहीं विस्तार तथा संक्षेप को मिलाकर अनतिसंकोच तथा विस्तार से भी बतलाया है॥२॥

अत्र केचित् परं तत्वं रजोमीलितदृष्टयः ।
अपश्यन्तोऽभिजानन्ति धर्मस्य न परां गतिम् ॥३॥

परन्तु कुछ रजोगुण से युक्त दृष्टि वाले बनकर आर्षदिव्यादि शास्त्रों को न देखते हुए धर्म की परमगति को नहीं समझ पाते हैं, अतएव वे उपयुक्त न्यायादि से परिशीलित फलभूत निर्णय से वंचित से हैं॥३॥

केचित्तु सत्वसम्पन्नाः केशवेनावलोकिताः ।
सारासारविदः प्राज्ञाः परं धर्मं विजानते ॥४॥

और कुछ जो सत्व सम्पन्न हैं तथा इसी कारण श्रीविष्णु से जन्म के समय से ही, सम्बद्ध हैं तथा उनके विलोकन के सौभाग्य से युक्त हो चुके हैं वे अपने सत्वगुण की सम्पत्तिगत विशेषता के कारण सारासार के अभिज्ञ होकर तीक्ष्णबुद्धि के द्वारा परमधर्म मोक्ष को जाननेवाले हो जाते हैं॥४॥

यदैकान्त्यङ्गता विष्णौ भगवत्यात्मभावने ।
तद्वैष्णवा भागवताः सन्त इत्यपि ते स्मृताः ॥५॥

जो आत्मभावन श्री भगवान् विष्णु के विषय में प्रपत्ति आदि से एकान्तभाव को प्राप्त कर चुके हैं वे वैष्णव तथा भागवत जन ही सन्त कहे जाते हैं॥५॥

नियोक्ता भगवान् विष्णुर्नियोगस्तस्य वै श्रुतिः ।
नियोज्याः सत्वसम्पन्ना मुख्या मोक्षार्थचिन्तकाः ॥६॥

ज्ञानादि षड्गुण सम्पन्न भगवान् श्रीविष्णु इस धर्म के नियोजक देव हैं तथा श्रुति (वेद) उस पुरुष का नियोग (आज्ञारूप) है। इस श्रुति प्रतिपादित धर्म में नियुक्ति के योग्य अधिकारी वे हैं जो सात्विकगुणों से सम्पन्न तथा मोक्षतत्व के विचारक हों, वे ही यहाँ मुख्य अधिकारी माने गये हैं॥६॥

अन्यथैवाभिमन्यन्ते सर्वमेतत् कुदृष्टयः ।
यतो दूरतरास्ते हि तथा भागवता अपि ॥७॥

परन्तु इस विषय में जिनकी दृष्टि स्पष्ट नहीं है ऐसे जन इस मोक्षादि तत्व को दूसरी ही पद्धति से लेकर समझने की बात करते हैं। क्योंकि वे सभी पदार्थादि से परे रहने वाले परमात्मा श्रीहरि से अपनी निष्ठा तथा आचरणों के कारण दूर बने हुए हैं॥७॥

यथा पृथग्विधा वर्णा यथा तत्रैव चाश्रमाः ।
विविक्तमतयस्तत्र तथा भागवता अपि ॥८॥

जैसे ब्राह्मणादि वर्ण परस्पर भिन्नरूपादि वाले हैं तथा इसी प्रकार जैसे ब्रह्मचर्यादि आश्रम भी परस्पर भिन्नरूपादि वाले हैं तथा विभिन्नबुद्धि सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार विविध मतों से युक्त बुद्धिवाले सत्वसम्पन्न अनन्यबुद्धि भागवत भी अनेक प्रकार के हैं जो वर्ण तथा आश्रमों में स्थित हैं। (ये भी भक्त, प्रपन्न तथा शुद्ध, मिश्र आदि भेदों के कारण अनेक भेदों से युक्त हैं)॥८॥

ईशभक्तिफलोपाया ईशैकफलसाधनाः ।
द्विधा ह्येकान्तिनस्ते च शुद्धा मिश्रा इति द्विधा ॥९॥

परमेश श्रीविष्णु, उनकी भक्ति को क्रमशः जो फल तथा उपायरूप में माननेवाले भक्ति के उपाय निष्ठ रहने वाले प्रथम प्रकार के तथा भगवान् श्रीविष्णु को परमेश मानकर उन्हें ही एकमात्र फल तथा उसकी प्राप्ति का साधन भी मानते हैं ये दूसरे प्रकार के हैं। ये दोनों ही एकान्ती हैं तथा इनके प्रत्येक के शुद्ध तथा मिश्ररूप में दो प्रकार होते हैं॥९॥

विशुद्धज्ञानकर्माणः　श्रौतदिव्यार्षवर्त्मभिः　।
भक्तिनिष्ठाः परं ब्रह्म नारायणमुपासते　॥१०॥

इनमें प्रथम "ईशभक्तिफलोपाय स्वरूप वाले (वैष्णव) फल की आकांक्षा या आग्रह से हीन, ज्ञान तथा कर्मयोग के प्रति निष्ठावान् होते हैं जो भक्ति को साधनरूप में लेते हैं। ये भक्तिनिष्ठ होकर मोक्षोपाय में विहित श्रौत, दिव्य-आगम तथा आर्ष धर्मशास्त्रादि के द्वारा कथित पद्धति में स्थित रहकर उनका अनुसरण करते हुए नारायणरूप परब्रह्म की उपासना करते हैं॥१०॥

नारायणैकशरणाः फलं नारायणः स्वयम्　।
तैस्तैः स्वादुत्तमैः कल्पैर्यजन्तोऽनुभवन्ति वै　॥११॥

ऐसे जन एकमात्र नारायण को ही एकनिष्ठ भाव से उपाय मानते हैं तथा स्वयं नारायण ही उनका फलभूत प्राप्तव्य होता है। वे श्रौत, दिव्य तथा आर्ष कल्पों में कथित उत्तम विधियों के द्वारा अपने इष्ट की आराधना कर उनका दर्शनादि अनुग्रह का अनुभव करते हैं॥११॥

ये तु वाकनिषन्निष्ठास्तत्तत्संस्कारसंस्कृताः　।
ते वै भागवताः शुद्धा वासुदेवैकयाजिनः　।१२॥

इसी प्रकार जो ईश्वरोक्त मूलवाणी वेद तथा उपनिषद् आदि परमविद्या के द्वारा विहित संस्कारों से संस्कृत होकर पवित्रभाव से वासुदेव मात्र की यज्ञादि से आराधना करनेवाले अनन्य (एकनिष्ट) भक्त हैं उन्हें शुद्ध तथा भागवत समझना चाहिए॥१२॥

त्रय्या विहितसंस्कारास्त्रय्यन्ते परिनिष्ठिताः　।
यजन्त्येकान्तिनो मिश्रा विष्णुं विश्वतनुं हरिम्　॥१३॥

जिनके संस्कार वेदत्रयी से सम्पन्न हैं तथा इसी त्रयी के अन्त या शीर्षभूत उपनिषद्रूप वेदान्त शास्त्र में जो परिनिष्ठित ज्ञानवाले हैं वे एकान्तभाव से विश्व के शरीररूप सर्वव्यापी अन्तर्यामी श्री नारायण की स्वविहित यज्ञादि में श्रोतादि विधानों से आराधना करते हैं। ये भागवत भक्त मिश्र कोटि के समझना चाहिए॥१३॥

श्रूयते यत्र यष्टव्या यादृशी या हि देवता　।
तादृशी सा भवेत्तत्र यजन्त्येकान्तिनो हरिम्　॥१४॥

तथा वेद श्रुति के द्वारा जिस कर्म में जिस देवता के गुण विग्रह आदि दिखलाकर उसका यजन उपदष्टि हो तो ऐसी जो भी देवता कर्म में विहित है उसी (प्रकार की) देवता में अन्तर्यामी हरि स्थित हैं ऐसा मान कर एकान्तभाव से उपासना करते हैं (तो उसी में श्रीहरि स्थित होकर (सर्वान्तव्यापी होने के कारण) उसके कर्मों को

फल देकर उसकी सिद्धि प्रदान कर देते हैं।।१४।।

तथा हि वाक् शची दुर्गा धाता शक्रस्त्रियम्बकः ।
इति नानाभिधारूपो लक्ष्मीशः स्वयमिज्यते ।।१५।।

जैसे विविध धर्मादि अनुष्ठानों में वाणी (सरस्वती), इन्द्राणी, दुर्गा, ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्र आदि के रूप में जहाँ उपासना की जाती है वहां भी अनन्य भाव से यही मानना चाहिए कि स्वयं लक्ष्मीश श्रीनारायण ही अपने इन विराट्रूपों में यहाँ यज्ञादि से उपासित (हो रहे) हैं[१]।।१५।।

तथैवात्मपृथिव्याद्या यतो लक्ष्मीपतेर्वपुः ।
अतस्तैरौपनिषदैरिज्यतेऽखिलविग्रहः ।।१६।।

और जैसे श्रीहरि के सभी जीव तथा पृथ्वी आदि सभी अंश स्वरूप माने गये हैं । अतः उपनिषद् के विद्वानों (वेदान्तशास्त्रवेत्ताजन) के द्वारा ब्रह्म को सभी के उपादानभूत शरीर के रूप में माने जाने के कारण अन्तर्यामी तथा विराट्रूप में लक्ष्मीपति के शरीर का अर्चन किया जाता है। (इस प्रकार परमैकान्तिक रूप में श्रीहरि एकमात्र शरण्य तथा उपास्य बन जाने के कारण अन्तार्यामी रूप हैं,अतः एकनिष्ठता सुरक्षित रहती है)।।१६।।

ततः शुद्धं परं ब्रह्म विशुद्धपरिवारकम् ।
इज्यते विविधैर्भोगैर्नित्यश्च प्रतिमादिषु ।।१७।।

इसलिए शुद्धरूप वाला परब्रह्म ही दिव्य विग्रह में स्थित तथा विशुद्ध देवीभूषण दिव्यायुधगण आदि परिवार से युक्त प्रतिमादि में विविध समर्पणीय भोगों से नित्य ही अर्चित होता है (जो मिश्र रूप में अन्तर्यामी तो है पर प्रतिमादि में नित्य एवं शुद्ध यजनीय भी है)।।१७।।

अशुद्धा ब्रह्मारुद्राद्या जीवा विष्णोर्विभूतयः ।
तान् वै कुदृष्टयः साम्यात् परत्वादप्युपासते ।।१८।।

जो ब्रह्मा तथा रुद्ररूप अशुद्ध कर्मभाव से रहने से जीवभूत होकर देवभाव से अर्चित भी हो तो भी वे श्रीविष्णु की विभूति के रूप में मान्य हैं। उनको समता का स्थान देकर या परमदेवता के रूप की भावना तथा बुद्धि से जो उपासना करते हैं वे

---

१ आशय यही है कि अनेक नाम तथा रूप से विशिष्ट श्रीलक्ष्मीपति ही सर्वत्र उपासित हैं क्योंकि ये ही प्रत्येक देव में भी अन्तर्यामी रूप से अवस्थित हैं। यहाँ लक्ष्मीश पद सार्थक एवं साभिप्राय रूप से रखा गया है। कहा भी है कि– देवतिर्यङ्मनुष्येषु पुन्नामा भगवान् हरिः । स्त्रीनाम्नी लक्ष्मीर्मैत्रेय नानयोर्विद्यते परम्।।' अतएव देवीभूत शक्ति का आराधन श्रीलक्ष्मीजी का तथा ब्रह्मादि देवाराधन श्रीहरि का आराधन है।

तात्विकज्ञान से अनभिज्ञ हैं॥१८॥

अपरत्वेन चाप्येता ये यजन्ति हि देवताः ।
तेषां भवति नैकान्त्यमतो नैवाप्नुयुः परम् ॥१९॥

और जो दूसरे पक्ष के विद्वान् हैं तथा जो इन्हें अपररूप या स्थिति में अर्चित करते या उपास्य मानते हैं तथा देवतारूप में उनकी यज्ञादि धर्म कार्यों से उपासना करते हैं उनका एकान्त्यभाव नहीं बनता। अतः वे परं निःश्रेयस् भाव को (मोक्ष को) प्राप्त नहीं कर सकते॥१९॥

अङ्गभावेन शुद्धानामर्चा प्रियतमा हरेः ।
या स्वतन्त्रधिया तत्र सा निहन्ति विविक्तताम् ॥२०॥

परन्तु शुद्धभाववाले नित्यमुक्त अनन्तादि की अङ्गभाव में (अमुख्यरूप से भी) अर्चना करना श्रीहरि को अत्यन्त प्रिय होती है परन्तु यदि यज्ञादि क्रियाएं किसी (अन्य देवता) की स्वतन्त्र निष्ठा से की जाए तो उससे भगवन्निष्ठा तथा एकान्त्यभाव को क्षति पहुँचने के कारण यह कार्य निषिद्ध माना जाता है॥२०॥

भावनानान्तु कालुष्यादशुद्धिः कर्मणां भवेत् ।
तस्मात्तेषां विशुद्ध्यर्थं विष्णुमेव सदा भजेत् ॥२१॥

तथा ऐसे कर्म में भावना के कलुषित हो जाने के कारण कर्म भी शुद्धरूप में नहीं होते हैं। अतएव समस्त कर्मों की विशुद्धि के लिये सदा श्रीहरि की ही उपासना करनी चाहिए॥२१॥

बाह्यः सदसतां नास्ति भेदः प्रायेण कर्मसु ।
सङ्कल्पादेव भिन्नानि स हेतुर्बन्धमोक्षयोः ॥२२॥

जो भक्त एकान्ती हैं उनके कर्म में प्रायः बाह्य-भेद नहीं माना जाता है (किन्तु संकल्प के कारण ही भिन्नता वाले सन्तों के कर्म भगवत्-प्राप्ति पर्यन्त फलाग्रह से रहित होते है) यह भेद प्रायः कर्मों में तथा संकल्प से भिन्नता रखता है तथा यही बन्धन एवं मोक्ष का कारण बनता है (असत् संकल्प बन्ध का तथा सत्संकल्प मोक्ष का हेतु बनता है)॥२२॥

यजेच्छुद्धानशुद्धान् वा साम्यात् पारम्यतोऽपि वा ।
लभते विविधान् कामान् विभोस्तस्यैव शासनात् ॥२३॥

शुद्ध तथा अशुद्ध के साम्य या परमता के आधार पर यजन (अर्चना) को किया जाता है जो ऐसी विविध कामनाओं को दिलवाता (प्राप्त करवाता) है जो कि परमेश श्रीविष्णु के अनुमत या शासन से होती है (किन्तु इनसे मोक्ष नहीं प्राप्त होता है)॥२३॥

त्रिभिः प्रजापतेर्भक्तः सप्तभिः शङ्करस्य तु ।
विंशत्याग्नीन्द्रसूर्यादिर्जन्मभिर्वैष्णवो भवेत् ॥२४॥

प्रजापति ब्रह्मा का आराधक भक्त तीन जन्मों के बाद शंकर का भक्त सात जन्मों के बाद तथा अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि का उपासक बीस जन्मों के बाद वैष्णव भक्त के रूप में जन्म लेता है॥२४॥

न सांख्येन न योगेन शैवेनापि न तत्पदम् ।
यदौपनिषदैः प्राप्यं पञ्चरात्रविशारदैः ॥२५॥

रजस्तमो मूलक दर्शनादि के अनुगमन से मोक्ष प्राप्ति का विचार कर कहते हैं कि यह मोक्ष कपिलादि प्रणीत सांख्य-शास्त्र के तथा पातञ्जल या हिरण्यगर्भीय योग-शास्त्र के, पाशुपतादिमत के शैवागम के अनुगमन या सिद्धांतो के मानने पर वैसा (मोक्ष) प्राप्त नहीं होता जैसा कि उपनिषद् के सिद्धान्तों के अथवा पञ्चरात्र-आगम के विद्वानों के अनुगमन करने पर सहज ही प्राप्त हो जाता है॥२५॥

एकैकं वापि नैकान्ती भजेन्नैकान्त्यलक्षणम् ।
कालेनैकान्त्यमाप्नोति नरो विगतकल्मषः ॥२६॥

मनुष्य इन पूर्व कथित मार्गों में से एक का भी अनुसरण करते हुए अन्य देवता की उपासना करे तो भी समय आने पर या जन्मादि की अवधि के पश्चात् विगतकल्मष या पवित्रता प्राप्त कर वहीं एकान्ती विष्णु भक्त होकर अन्त में परम मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥२६॥

नारायणैकनिष्ठा ये सात्विकास्तान् निबोधत ।
पुरुषा राजसा ज्ञेया नानादेवतयाजिनः ॥२७॥

अतः जो भगवान् श्रीहरि के एकान्त भक्त या तन्निष्ठ हैं वे सात्विक-आराधक हैं तथा जो अनेक देवताओं के आराधक तथा अर्चनादिकारी हैं वे पुरुष राजस-आराधक कहलाते हैं॥२७॥

बाह्या निर्देवताश्चैव तामसाः परिकीर्तिताः ।
रजस्तमोऽभिभूतानां न तु मोक्षः कथञ्चन ॥२८॥

वे पुरुष जो किसी देवता की आराधना ही नहीं करते हों तो ऐसे निरीश्वरवादी तामस तथा बाह्यजन है। राजस तथा तामस गुणों से अभिभूत जन को (अन्यदेवतादि के आराधन करने के कारण) मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है॥२८॥

मुनयः सत्वनिष्ठानां लक्षणानि निबोधत ।
विष्णोर्दास्यैकफलता तदेकोपायता स्थितिः ॥२९॥

हे मुनिजन! अब सात्विक गुणोंवाले श्रीनारायण के सात्विक उपासकों के स्वरूप को बतलाता हूं। इनका श्रीनारायण के दास्यभाव को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्ति ही फल है तथा भगवान् ही इस प्राप्ति के उपायभूत आधार होकर अंग भी हो जाते हैं (अतः इस प्रकार श्रीहरि ही मोक्ष के प्रति उपाय तथा उपेय हैं) ॥२९॥

तदाज्ञाकरणे प्रीतिस्तत्कर्मगुणकीर्तनम् ।
तच्चिह्नाङ्कितदेहत्वं तदीयाराधने रतिः ॥३०॥

इन सात्विक उपासकों को अपने नित्य तथा नैमित्तिक अनुष्ठानों में भगवदाज्ञारूपी वचनों के पालनादि में प्रीति रखना है तथा उनके कर्मों तथा गुणों का कीर्तन करना, उनके चक्रादि चिन्हों से शरीर को अंकित करना तथा उनकी आराधना में ही रति रखना कार्य हो जाते हैं॥३०॥

तदन्यस्पर्शवैराग्यमिन्द्रियार्थेष्वलोलता ।
आचार्याधीनवृत्तित्वमाचार्यार्थार्थवृत्तिता ॥३१॥

उन्हें भगवन्नारायण के अतिरिक्त अन्य जन के स्पर्शादि तक से विराग हो जाता है तथा इन्द्रियादि के भौतिक आलम्बनों के प्रति लोलुपता नहीं रहती। इनकी कार्यादिवृत्ति भी अपने आचार्यों के प्रति अर्पित होकर उनके अधीन रहती है तथा आत्मवृत्ति भी आचार्यादि के अर्थों के प्रति ही रहनेवाली हो जाती है॥३१॥

क्रोधलोभमदालस्यमानमोहविहीनता ।
सत्यशौचदयाधैर्यक्षमासन्तोषयुक्तता ॥३२॥

और वे क्रोध, लोभ, मद, आलस्य, मान तथा मोह से रहित हो जाते हैं। तब उनमें सत्य,, शौच, दया, धैर्य, क्षमा तथा सन्तोष के भाव स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं॥३२॥

इत्येतैलक्षणैर्युक्ता वैष्णवा वीतकल्मषाः ।
सभाज्या दर्शनेनैव नावज्ञेयाः कदाचन ॥३३॥

इस प्रकार इन लक्षणों से युक्त वैष्णव भक्त रहते हैं जो अतिशय पवित्र तथा निष्कल्पषरूप वाले हैं। ऐसे वैष्णवजन के दर्शन प्राप्त होने पर पूज्यभाव से उनकी सम्भावना करनी चाहिए तथा इनकी न तो उपेक्षा ही करना चाहिए और न तिरस्कार करना चाहिए॥३३॥

---

१ ऐसे साधक भक्त 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' मानकर ईशवचन का अनुगमन करते हैं। तथा आचार्य को भी उसी श्रीपति के रूप में रखते हुए अपनी वृत्ति में अवस्थित रहते हैं। यथा-'शरीरं प्राणवत् पश्येदन्नं प्राणविलेपनम् । प्राणाभावेन न च तावनन्दस्तन्तु प्राणवत् ॥'

अज्ञैः कुदृष्टिभिर्बाह्यैर्नास्तिकैः संशयात्मभिः ।
न तु भागवतः किञ्चित् प्रच्युतैश्च समाचरेत् ॥३४॥

ऐसे लोग जो शास्त्रज्ञान से रहित हैं, जो वेद को प्रमाण मान कर भी उसकी प्रतिपत्ति से विपरीत व्याख्या करते हैं, जो नास्तिक बुद्धि वाले तथा संशयात्मा पुरुष हैं तथा जो तन्त्रादि आगम के व्रतधारी हों तो ऐसे पुरुषों के साथ भागवत वैष्णव कुछ भी आचरण या संसर्ग न रखें॥३४॥

तुल्याभिजनचारित्रा बान्धवास्तुल्यदृष्टयः ।
आपाद्य दृष्टयोऽपि स्युर्न कदापि कुदृष्टयः ॥३५॥

और जो बाह्य तथा अन्तररूप में कुल तथा वृत्ति में समानता रखते हों, जो ज्ञानादि में भी बराबर समान हों, ऐसे बान्धवजन यदि आपत्ति में इन पूर्वोक्त आचारों से हीन (विपरीत भाववाले) भी हो जाएं तो ऐसे बान्धवजन बाद में कुदृष्टि नहीं होते (या यदि वैसे ही हो तो वे बान्धव नहीं होंगे)॥३५॥

विवाह-यज्ञाध्ययन-स्पर्श-संवास-भोजनम् ।
एकान्तिनान्तु कर्त्तव्यं तादृशैः सह बान्धवैः॥३६॥

विवाह, यज्ञादि अनुष्ठान, अध्ययनकाल, स्पर्श, साथ में निवास करना तथा भोजनादि कर्मों में उपयुक्त व्यवहार वाले अपने सम्बन्धी या कुल के व्यक्तियों के साथ भी भागवत अथवा एकान्तीजन को भी सम्बन्ध रखना चाहिए या काम बनाये रखना चाहिए॥३६॥

सतामनवकाशत्वात् कालांशेषु न लौकिकम् ।
तस्मादलौकिकैरेव सकलं कर्म कारयेत् ॥३७॥

अपने इष्टदेव के पांच निर्धारित समयों में आराधना से ही रहने के कारण इनके काल भागों में लोकयात्रा या सम्बन्धीजन से सम्पर्क या व्यवहार का समय ही नहीं होगा। अतएव इस समय लोकयात्रा से विमुख अतिरिक्त समय के अंशों में ही इनसे कार्य रखे या इनका कार्य करवाए॥३७॥

समित्पुष्पहविस्तोयपात्रोपनयनादिषु ।
अवैष्णवान् विशेषेण न कर्मसु नियोजयेत् ॥३८॥

जैसे यज्ञीय अपेक्षा से समिधाओं, पुष्पपल्लवादि, जल-पात्रों का लाना जैसे कार्यों में विशेषरूप से जो अवैष्णवजन हों तो उनकी नियुक्ति नहीं की जाती है॥३८॥

नोपभोक्तव्यमन्नाद्यमवैष्णवनिवेदितम् ।
नावैष्णवाय दातव्यं स्वयं विष्णोर्निवेदितम् ॥३९॥

किसी अवैष्णवजन से अर्पित या निवेदित स्वादु अन्नादि का उपभोग या अशनादि

नहीं करना चाहिए तथा स्वयं भी श्रीहरि को समर्पित प्रसादादि अन्न को किसी अवैष्णवजन को प्रदान नहीं करना चाहिए।।३९।।

ये त्ववैष्णवभर्त्तव्या ये चावैष्णवभर्तृकाः ।
एकान्त्यस्योपघातेन न तैः कर्माण्यनापदि ।।४०।।

आपत्ति की स्थिति को छोड़कर यदि जिनका पालन किया जा रहा हो ऐसे पुत्र,स्त्री आदि के वैष्णव न रहने या जो पालन करनेवाले पिता माता आदि भी वैष्णव न हों तो अनैकान्ती भाव के उपघात हो जाने से इनसे भी कार्य तथा सम्बन्ध को दूर रखे और आपत्काल में इसे पालनयोग्य न समझे।।४०।।

त्यक्ताचारस्त्यक्तदृष्टिस्त्यक्तार्थस्त्यक्तलक्षणः ।
त्यक्ताचार्यस्त्यक्तमन्त्रः प्रत्येकं प्रच्युतो नरः ।।४१।।

अब प्रच्युत का स्वरूप बतलाते हैं कि जो वैष्णवानुमत वृत्ति के आचारों को पालन न करता हो, जिसने दृष्टि (नामक अवयव) का ध्यान न रखा हो, जो वैष्णवार्थ में भक्ति आदि का सम्यक् ज्ञान न रखता हो तथा जो ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि धारण के भगवत् चिन्हों का परित्याग करता हो तो उसे 'प्रच्युत' समझना चाहिए, जो कि अपने मन्त्रादिकों के प्रदाता गुरु तथा उनके दिये गए मन्त्रों का भी परित्याग कर देता हो।।४१।।

पातकेन कुदृष्ट्यान्यभजनेनान्यलक्षणैः ।
अवैष्णवोपसत्यान्यमन्त्रेणाऽपि च्यवन्ति वै ।।४२।।

विहित आचार के विरुद्ध आचरण के पातक से, दृष्टि विरुद्ध अन्य देवता के भजन तथा भक्ति करने से, अन्य लक्ष्म के धारण करने से तथा अवैष्णवजन की संगति के कारण सत्सेवा न करने से और अन्य देवता के मन्त्र को लेने के कारणों में प्रत्येक की स्थिति में वह पतित या 'प्रच्युत' हो जाता है।।४२।।

यो दिव्यशास्त्रमन्त्रेषु कुरुते त्ववधीरणाम् ।
तथान्यशास्त्रमन्त्रेषु प्रसक्तिं न स वैष्णवः ।।४३।।

जो पञ्चरात्रागमादि प्रोक्त दिव्यशास्त्रीय मन्त्र तथा इन शास्त्रों के मन्त्रों की अवधीरणा करे तथा अन्य शास्त्रों के प्रति श्रद्धा या आसक्ति रखने लगे तो वह 'वैष्णव' नहीं माना जाता है।।४३।।

सर्वैश्च लक्षणैर्युक्तो नियतश्च स्वकर्मसु ।
यस्तु भागवतान् द्वेष्टि सुदूरं प्रच्युतो हि सः ।।४४।।

और जो पूर्व में दिखलाये गये सभी लक्षणों से युक्त हो, अपने कर्म तथा आचार में जो निष्ठा रखता हो किन्तु जो भागवतजन से द्वेष करनेवाला या उनका तिरस्कार

करनेवाला हो तो उसे भी 'प्रच्युत' ही समझना चाहिए॥४४॥

अपि चेत् सेवनपरो न चेत्तापादिसंस्कृतः ।
अनर्चार्हतया विष्णोर्दास्यात् प्रच्यवते ध्रुवम् ॥४५॥

और यदि भागवतजन की सेवा में रत होकर भी जो तापादि चक्रांकित रूप से संस्कार प्राप्त न किया हुआ हो तो उसे श्रीनारायण की अर्चना करने का अधिकार न मिलने से वह भी निश्चितरूप से श्रीविष्णु के दास्यभाव से पतित हो जाता है (श्रीविष्णु की भक्ति का अधिकारी भी नहीं रह पाता है)॥४५॥

यस्तु प्राप्य गुरोर्विद्यां नार्चयेत् पुरुषोत्तमम् ।
प्रणमेदन्यदेवाय न स भागवतः स्मृतः ॥४६॥

जो उत्तम आचार्य से विद्या की शिक्षा तथा मन्त्रादि की दीक्षा प्राप्त करने पर भी श्री पुरुषोत्तम की अर्चना (नित्य) नहीं करे और अन्य देवताओं की प्रणामादि अर्चना करता हो तो वह भी भागवतजन या वैष्णव नहीं है॥४६॥

ये नात्मानमनात्मानं विद्याविद्ये फलाफले ।
उपास्यमनुपास्यञ्च वेत्ति भागवतो न सः ॥४७॥

जो आत्मा तथा अनात्मा का, विद्या और अविद्या का, फल और फल विरोधी अफल का तथा इष्ट एवं उपास्य देव तथा अनुपास्य देवता का भेद न समझता हो तो उसे भी भागवतजन या वैष्णव नहीं समझना चाहिए॥४७॥

देवतानाञ्च याथात्म्यं कैङ्कर्यस्य हरेरपि ।
अविदित्वाऽऽचरन् कर्म विहीनां गतिमश्नुते ॥४८॥

जो अग्नि तथा इन्द्र आदि देवगण का भगवद् देह भाव तथा श्रीहरि के किंङ्करभाव को न जानकर कर्म, वर्ण तथा आश्रम में अपने नियतकर्मों का आचरण करते हुए न रहे तो वह भी प्रच्युत है तथा उसे भी सद्गति प्राप्त नहीं होती है॥४८॥

देवर्षिभूतात्मतया त्यजन् केवलमेव वा ।
विष्णुं तत्तत्फलाकाङ्क्षी पारमैकान्त्यतश्च्यवेत्॥४९॥

और जो देव तथा ऋषियों के यजनादि कर्मों को नियत विधि से सम्पन्न करते हुए तथा उनमें केवल विष्णु का अर्चन कर उससे कार्य के फल की इच्छा रखे तो वह भी परमैकान्त्य-भाव से च्युत (होता) है॥४९॥

तेषां न परिशुद्धानि योनिर्विद्याञ्च कर्म वा ।
ये विष्णुचरणैकान्त्यविहीना ब्राह्मणादयः ॥५०॥

जिनको श्रीविष्णु के चरणों से एकान्त्य प्राप्त नहीं है वे ब्राह्मणादि वर्ण की योनि (वर्ण या जाति में) उत्पत्ति विद्या तथा कर्मों को परिशुद्ध नहीं माना जाता

है।।५०।।

मरणं जन्मने यस्य मरणायैव केवलम् ।
तेषां भगवदैकान्त्यविमुखा ये नराधमाः ।।५१।।

और जो भगवच्चरणों से विमुख एकान्त्य रहित ब्राह्मणादि वर्ण है उनका जन्म केवल मरण के लिये होता है तथा मरण भी केवल मरण के लिये होता है तथा मरण भी केवल पुनर्जन्म के लिये होता है और बाद में ये भी मनुष्यों में हीन स्थिति के ही रखनेवाले बन जाते हैं (तथा ये मोक्ष से वंचित हो जाते हैं)।।५१।।

न विद्या केवलार्थाय नाचारो नार्चनं हरेः ।
न चक्राद्यङ्कदेहत्वं विना भागवतार्चनम् ।।५२।।

श्रीहरि के अर्चन का कार्य न करने पर उनकी प्राप्त की गयी विद्या भी व्यर्थ है, उनकी आचारनिष्ठता तथा चक्रादि का शरीर पर धारण करना भी बिना श्रीहरि के अर्चन के साथ भागवतजन की सत्सेवारूप अर्चन भी निरर्थक होता है।।५२।।

न प्रपत्तेः परा विद्या न विष्णोर्दैवतं परम् ।
न तद्दास्यात् परा सिद्धिर्न गुरुर्वैष्णवात् परः ।।५३।।

क्योंकि श्रीहरि की प्रपत्ति के 'न्यास-योग' से श्रेष्ठ कोई विद्या नहीं है तथा श्रीविष्णु से उत्तम कोई अन्य देवता नहीं। उनकी दास्यता प्राप्ति से उत्तम कोई सिद्धि नहीं होती तथा वैष्णवजन से उत्तम दूसरा कोई आचार्य या गुरु भी नहीं होता।।५३।।

नित्यमच्युतभक्तानां कुर्यात् पादावनेजनम् ।
नम्रः समुपभुञ्जीत सर्वपातकनाशनम् ।।५४।।

अतएव जो श्रीविष्णु के परमभक्तजन वैष्णव हों तो उनके नित्य पाद प्रक्षालन करना चाहिए तथा ऐसे चरणतीर्थ जल का विनम्रभाव से सेवन करना सभी पातकों का विनाश करनेवाला होता है।।५४।।

वैष्णवस्याङ्कशय्यायां वैष्णवस्य गृहेऽपि वा ।
देशे वा तद्विचरिते संस्थिता यान्ति सद्गतिम् ।।५५।।

यदि किसी वैष्णव की गोद में अन्तिम समय मस्तक रखकर या किसी वैष्णव के गृह में अथवा श्रीवैष्णव के द्वारा संचालित भूमि या स्थान पर स्थित रहकर यदि प्राण निकले तो उसकी सद्गति हो जाती है।।५५।।

यत्र क्वाप्यथवा देशे वैष्णवो म्रियते यदा ।
तदा तत्राशु सान्निध्यं करोति वृषभध्वजः ।।५६।।

और वैष्णव भक्त जहाँ कहीं भी स्थित रहकर अपना प्राण छोड़ता है तो उन सभी

स्थानों पर श्रीगरुड़ध्वज विष्णु उसके समीप आकर उसको करुणावश विष्णुलोक में ले जाते हैं॥५६॥

न जन्मनो नाध्ययनान् न यज्ञान्न तपःश्रमात् ।
न त्यागादश्नुते ब्रह्म गुरूपसदनं विना ॥५७॥

उपदेष्टा आचार्य की सेवा का आश्रय ही मुख्य है। अतः इसके बिना यदि ब्राह्मणादि उत्तमवर्ण में जन्म हो जाने से या वेदादि शास्त्रों के अध्ययन सम्पन्न हो जाने से, यज्ञादि अनुष्ठानों के कराने से तथा विरक्तिभाव से इन्द्रियादि के विषयों का त्याग करने से भी ब्रह्म की प्राप्ति (मोक्ष की प्राप्ति) नहीं हो सकती॥५७॥

देहकृन्मन्त्रविन्न स्यान्मन्त्री संस्कारकृत् परः ।
तौ च नात्मविदौ स्यातामन्यस्त्वात्मविदात्कृत् ॥५८॥

यदि जन्म प्रदान करनेवाला पिता ही मन्त्र का प्रदाता भी हो जाए ऐसी कभी स्थिति नहीं हो पाती है क्योंकि जो मन्त्रवेत्ता विद्वान है वही उपनयन आदि संस्कार का सम्पादन करनेवाला आचार्य नहीं हो पाता है और पिता तथा सँस्कार और मन्त्र का संपादन करनेवाला आचार्यरूप में रहकर भी ये ब्रह्म या आत्मतत्व के विद्वान् नहीं हो पाते। अतः यदि ब्रह्मवेत्ता पिता ही मन्त्रवेत्ता हो तो वहीं संस्कार का सम्पादन करनेवाला आचार्य भी होना उचित है॥५८॥

न चक्राद्यङ्कनं नेज्या न ज्ञानं न विरागता ।
न मन्त्रः पारमैकान्त्यं तैर्युक्ता गुरुवश्यता ॥५९॥

केवल चक्रादि का शरीर पर अंकन मात्र और न ही इष्ट के प्रति उपपादित यज्ञादि, न केवल दृष्टि या ज्ञान तथा न ही वैराग्य भाव, न दीक्षा में प्राप्त मन्त्र ही 'पारमैकान्त्यम्' होता है। किन्तु इन सभी के साथ अपने मन्त्रादि उपदेष्टा आचार्य (गुरु) के अधीन रहकर भगवदाराधना कर्म ही 'पारमैकान्त्य' होता है॥५९॥

विद्या विभूषणं पुंसस्तस्या वृत्तं विभूषणम् ।
विष्णुभक्तिर्विभूषाऽस्य सा चक्राद्यङ्कभूषणा ॥६०॥

पुरुष की विद्या के अर्जन से प्राप्त दृष्टि अलंकार या भूषण होती है और विद्या से विहित वृत्त या आचार विभूषण होता है। इस वृत्त का विभूषण श्रीनारायण की भक्ति है तथा इसका विभूषण शरीर पर श्रीविष्णु के चक्रादि का अंकन (कार्य) होता है॥६०॥

ध्यानेन मन्त्रयोगेन पूजनेनाङ्कनेन च ।
तोषयन्ति जगन्नाथं वासुदेवं युगक्रमात् ॥६१॥

आराधकजन अपने इष्ट श्रीहरि को अपने ध्यानयोग के द्वारा मन्त्र के जपरूप अनुष्ठान के द्वारा क्रमशः युगों में तुष्ट करते हैं। (इनमें कृतयुग में ध्यान, त्रेतायुग में मन्त्र योग, द्वापर में पूजन तथा कलियुग में चक्रांद्यंकन कार्य नारायण की प्रसन्नता के अतिशय आपादक है। यह तत्व दिखलाया गया)॥६१॥

अष्टमात् षोडशाद्वाद्वा धार्यं चक्रादिभूषणम् ।
प्रतप्तैरङ्कनं पश्चात् सदा वा भूषणं स्त्रियः ॥६२॥

आठ वर्ष की आयु से लेकर सोलह वर्ष की आयु तक का काल विहित रहने से इसमें चक्रादि पञ्च आयुध के भूषण का धारण किया जा सकता है। (जो ब्राह्मण के उपनयनकाल का आरम्भ तथा गौण उपनयन का अन्तिम अवधि का काल है) इस मुहूर्त में प्रतप्त चक्रादि से अंकन किया जावे, अथवा स्त्रीजन के लिये भी इनका सदा धारण या भूषणरूप में इनका धारण भी अभीष्ट (होता) है॥६२॥

शिष्यपुत्रकलत्राणां भृत्यानाञ्च गवामपि ।
कुर्यादचेतनानाञ्च वैष्णवं नाम लक्ष्म च ॥६३॥

इसके अतिरिक्त अपने शिष्य, पुत्र, भार्या तथा अपने सेवकजन का तथा अपने द्वारा संग्रहीत पशु में गौ आदि का तथा अचेतनभूत स्वगृह तथा अन्य पदार्थों का नाम भी श्रीविष्णु से सम्बन्द्ध रखना चाहिए तथा इनमें चेतन जीवों के शरीर पर चक्रादि का अंकन भी करवाना चाहिए॥६३॥

आमा ह्यतप्ततनवस्तप्ताङ्गाः हरिलाञ्छनैः ।
सुभृता भोग्यतां प्राप्य भुज्यन्ते परमात्मना ॥६४॥

जो शरीर तप्तचक्र से अंकित नहीं किये गये वे अपक्व या पापों को दग्ध न करनेवाले होते हैं तथा श्रीहरि के चिन्ह चक्रादि से तप्ताङ्ग होने पर उनके सभी पातक दग्ध हो जाने से परमात्मा श्रीहरि के द्वारा भोगयोग्य होकर उनके द्वारा उपभोग के योग्य बन जाते हैं॥६४॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रान्तरालस्थाँश्चक्रादीन् धारयेत् सदा ।
बहिष्कृता ह्यतिक्रुद्धाः पदात् प्रच्यावयन्ति ते ॥६५॥

इसलिये शरीर पर उचित प्रदेशों पर चक्रादि चिन्ह तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र को सदा धारण करना चाहिए (चक्रादि चिन्ह से अंकित या ऊर्ध्वपुण्ड्रादि पूर्व निर्दिष्ट स्थानों पर धारण करते हैं)। यदि इन चक्रादि तथा ऊर्ध्वपुण्ड्रादि का धारण कर इन्हें उपेक्षित करेंगे तो वे उन्हें अपने स्थान से गिरा देंगे॥६५॥

प्रातर्माध्यन्दिने सायमूर्द्धपुण्ड्रेण केशव ।
अकृतैर्वापि सुकृतैस्तैस्तैः प्रीणाति कर्मभिः ॥६६॥

यदि प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सायंकाल त्रिसन्ध्य वेला में ऊर्ध्वपुण्ड्र ही शरीर पर धारण किया जाए (और अन्य नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान में कमी भी आ जाए) तो भी श्रीनारायण की प्रीति रहने से ऐसे प्रत्यवाय की शान्ति शीघ्र हो जाती है।।६६।।

प्रभाते दिव्यलोकस्थं मध्याह्ने चार्कमध्यगम् ।
तोषयन्त्यूर्ध्वपुण्ड्रेण सायं स्वात्मगतं हरिम् ।।६७।।

यदि प्रभातकालमें ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे तो दिव्यलोक स्थित श्रीनारायण की मध्याह्नकाल में आदित्य में स्थित नारायण की तथा सायंकाल आत्मस्थ नारायण की प्रसन्नता प्राप्त होती है।।६७।।

सन्तः सतोऽनुगृह्णन्ति दर्शनादेव लक्ष्मभिः ।
त्यजन्त्यन्ये तदुभयं मुख्यमैकान्त्यकारणम् ।।६८।।

वैष्णव सन्त चक्रादि चिन्हों को देखने मात्र से उन्हें आत्मीय समझ कर उन पर अनुग्रह करते हैं तथा जो असन्त या अवैष्णवजन हैं वे इन वैष्णव चिन्हों को देखते ही उनसे दूर हट जाते हैं। ये दोनों ही एकान्त्य भाव में कारणभूत होते हैं अतः लक्ष्म (चिन्ह) तथा ऊर्ध्वपुण्ड्रादि का धारण आवश्यक है।।६८।।

क्रमाप्तभगवन्मन्त्रः कल्पविच्छुद्धमानसः ।
धृतोर्ध्वपुण्ड्रश्चक्रादिलाञ्छितो हरिमर्चयेत् ।।६९।।

सम्प्रदाय (के क्रम) के अनुसार दीक्षित होकर भगवन्मन्त्र को प्राप्त कर मन्त्र तथा भगवतस्समाराधन के विधान को जानकर ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण कर चक्रादि लक्ष्म से युक्त रहकर वैष्णव श्रीनारायण की अर्चना करे।।६९।।

यथापूर्वाकृतीन्नित्यान् मुक्ताँश्चैव यथागमम् ।
यथावतारदेहश्च पूजयेद्धरिमिच्छया ।।७०।।

श्रीहरि का अर्चन पञ्चरात्र आगम के अनुगत यथावत् आकृति में युक्त तथा नित्यरूपवाले अवतार के अनुरूप देहादि विग्रह वाले श्री हरि की ध्यानादि के पश्चात् अपनी इच्छा के अनुरूप विधिवत् अर्चना करे।।७०।।

अवैष्णवाद्वैष्णवाद्वा चेतनं वाप्यचेतनम् ।
यदवाप्तं समस्तं तद्विष्णवे विनिवेदयेत् ।।७१।।

वैष्णव अथवा अवैष्णव से प्राप्त होनेवाली चेतना चेतनात्मक भाव की जो भी सामग्री प्राप्त हो उस सभी को श्रीनारायण को अर्पित कर उन्हें निवेदित करे।।७१।।

वासः स्रग्गन्धभूषादि भक्ष्यभोज्यादिकं तथा ।
न किञ्चिदुपभोक्तव्यमनिवेद्य श्रियः पतेः ।।७२।।

यह सामग्री वस्त्र, पुष्पादि की मालाएं, गन्ध, धूप, भूषणादि तथा भक्ष्य, भोज्यादिरूप में होती है अतः प्राप्त ऐसी सभी सामग्री को श्रीनारायण को बिना निवेदित या अर्पित किये उनका उपभोग या ग्रहण नहीं करना चाहिए॥७२॥

वेदवेदाङ्गतत्वज्ञो वेदान्तपरिनिष्ठितः ।
मीमांसान्याय-निपुणो धर्मशास्त्रविशारदः ॥७३॥
इतिहासपुराणज्ञः पञ्चरात्रार्थतत्ववित् ।
परं भगवदैकान्त्यं ज्ञात्वा धर्मं समाचरेत् ॥७४॥

अतएव वेद तथा वेदाङ्गों के तत्वों का पूर्ण ज्ञान करनेवाला, वेदान्तादि शास्त्रों में पारंगत, मीमांसा तथा न्याय शास्त्रों में निपुण विद्वान्, धर्मशास्त्रादि का पूर्णज्ञाता, इतिहास तथा पुराणों का अनुशीलन किया हुआ तथा पांचरात्र आदि वैष्णवागमों के तत्वों का विशेषज्ञान रखनेवाला विद्वान् नारायण की अनन्यता को समझ कर स्वधर्म का पालन करे॥७३-७४॥

सर्वसंस्कारसंस्कारो ज्ञानं भागवतं परम् ।
तत्संस्कृता हि संस्काराः कल्पन्ते मुक्तिहेतवः ॥७५॥

भगवद्विषयक ज्ञान परमोत्तम है क्योंकि वही सभी वर्णाश्रमनियत संस्कारों का अतिशय आपादक संस्कार होता है तथा अतिशय संस्कृत रूप के कारण (यह ज्ञान संस्कृत संस्कार) मुक्ति में कारणभूत हो जाते हैं। (इसलिए भगवद्विषयक ज्ञान ही सर्व संस्कारभूत है)॥७५॥

परमात्मा हरिः स्वामी स्वतोऽहं तस्य किङ्करः ।
कैङ्कर्यमखिला वृत्तिरित्येष ज्ञानसङ्ग्रहः ॥७६॥

भागवत ज्ञान को यदि संग्रह रूप में देखें तो यह है कि समस्त आत्माओं के अन्तरात्मास्वरूप परमात्मा हरि ही स्वामी हैं तथा अहंवृत्तिवेद्य प्रत्यगात्मरूप में स्वयं इन हरि का दासभूत किंकर मैं हूं तथा मेरे सभी वृत्तिभूत व्यापार कैंकर्यभूत हैं, यही इसका संग्राहक संग्रह है॥७६॥

नित्यमर्चाजपध्यानस्नानदानव्रतादिकम् ।
विशुद्धमेव कर्तव्यमनन्यैर्न विमिश्रितम् ॥७७॥

(वृत्ति के विहिताचारों में) नित्य ही इष्टदेव श्रीहरि की अर्चना करना, निष्ठा मन्त्र का नित्यजप, उनका ही स्मरणरूप ध्यान धरना, नित्य स्नान, दान तथा एकादशी आदि साम्प्रदायिक व्रत उपवास आदि रखना, ये सभी अर्चादि तत्व तथा एकान्तीभाव से विशुद्धरूप में करना चाहिए। अर्थात् अन्य देवगण की अर्चनादि के

साथ इन्हें मिलाकर नहीं करना चाहिए॥७७॥

सद् ब्रह्म वासुदेवाद्यैर्विविक्तैर्यत्र नामभिः ।
प्रोच्यते भगवान् विष्णुस्तद्विशुद्धमुदाहृतम् ॥७८॥

जिस कर्म में केवल श्रीहरि के वाचक सद्ब्रह्म वासुदेवादि नामों से भगवान् श्रीहरि अभिहित होते हैं, वही कर्म विशुद्ध तथा जहाँ साक्षात् भगवद्देवता विषयक केवल कर्म हो वह भी विशुद्ध है॥७८॥

यत्राविविक्तैः शद्बैस्तु प्रोच्यते पुरुषोत्तमः ।
देवादीनामशुद्धानां व्यामिश्रं तत् प्रचक्षते ॥७९॥

तथा जहाँ सद्ब्रह्मादि से भिन्न देवादि शब्दों से परमेश्वर को अभिहित किया जाता है तो ऐसा अर्चनादि कर्म 'मिश्र' (व्यामिश्र) होता है॥७९॥

दुर्निमित्तमये पापे ग्रहादीनां विपर्यये ।
विष्णुतद्भक्तपूजाभिः शान्तिं कुर्वीत् नान्यथा ॥८०॥

दुर्निमित्तादि से युक्त भयोत्पादक किसी पातक के कारण या सूर्य, शनि आदि के जन्मादि से द्वादशादि स्थान में आने से अनिष्टकारक योग रहने के कारण या आ जाने पर उन्हें श्री विष्णु तथा उनके परिवारभूत देवादि की पूजनादि अनुष्ठानों (विष्णुपूजा के पारम्परिक परमादि रूपों से तथा उपशान्तिरूप परिवारभूत अनुष्ठानों) के द्वारा इसकी शान्ति की जाए। अन्यथारूप में केवल ग्रहयज्ञादि के द्वारा इस शान्ति को नहीं करें॥८०॥

प्राज्यैः प्रियतमैर्भोगैर्विशेषेण जनार्दनम् ।
आराधयेन्निमित्तेषु वैष्णवांश्च विशेषतः ॥८१॥

वैष्णवोत्सवादि निमित्तों के अवसर पर श्रेष्ठ तथा प्रियभाव के रूप में स्वेष्ट गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, सूप तथा अपूपादि पदार्थों से विशेषतः परमेश नारायण की आराधना की जाए तथा विशेष रूप में वैष्णवजन की भी प्रसन्नतापादक आराधना प्रसादादि के प्रदानरूप में रखी जाए॥८१॥

कुर्वन्ति वैष्णवार्थाय स्वधर्माणाञ्च सिद्धये ।
शान्तिकर्म हरेः केचित् प्रपत्तिं केवलं हरेः ॥८२॥

ग्रहादि शान्ति के हेतु कुछ वैष्णव लोग श्रीविष्णु के उद्देश से तथा अपने साम्प्रदायिक धर्मों की सिद्धि के लिये श्रीहरि की पूजनादि के अनुष्ठान से शान्तिकर्म करते हैं तथा अन्य केवल (दुनिर्मित्त तथा ग्रहादि के भय के प्राप्त होने पर) श्रीहरि की प्रपत्ति या शरण का ही कार्य करते हैं (जो शान्ति आदि कर्मों में असमर्थ या अधिकारी नहीं होते हैं)॥८२॥

यास्तत्र तत्र श्रूयन्ते पुंसां काम्यतया श्रुतौ ।
ताः किलैकान्तिना दिव्या भगवद्भोगसम्पदः ॥८३॥

वेदादि में जो जो क्रियाएं पुरुषों के लिये काम्यरूप में बतलाई गयी है एकान्ती वैष्णव विद्या से विशुद्ध ऐसी दिव्य क्रियाओं को श्रीनारायण की अभिमत या प्रियरूप में भगवदाराधनरूप किंकरभाव से सम्पन्न होकर सम्पादन करे॥८३॥

आरम्भे कर्मणां सिद्धयै विघ्नानां प्रशमाय च ।
कुर्यात् सपरिवारस्य विष्वक्सेनस्य पूजनम् ॥८४॥

इन क्रियाओं के आरम्भ में कर्म की सिद्धि के लिये तथा विघ्नों की शान्ति के लिए विष्वक्-सेन श्रीविष्णु का परिवार सहित पारम्परिक अर्चन करना चाहिए॥८४॥

स्वल्पापि हन्ति भूयांसं स्वधर्मं निन्दिता क्रिया ।
दृष्टिं कुदृष्टिर्भक्तिन्तु देवतान्तरसम्भवः ॥८५॥

थोड़ी भी इष्टादि की निन्दा से युक्त किया बड़े से बड़े धार्मिक अर्चनादि के अनुष्ठानों का विघात कर देती है तथा अश्रद्धा या कुदृष्टि अपने इष्ट की गौण दृष्टि का तथा ऐसी भक्ति अन्य देवता की उपासना का आश्रय ग्रहण करती है॥८५॥

सत्सेवनमसत्सेवा लक्षणं चान्यलक्ष्मता ।
तस्माद् विरुद्धान्येकान्ती विशेषेण विवर्जयेत् ॥८६॥

और जैसे असत् सेवा सत्सेवा का विघात करती है इसी तरह अन्य देवताओं के चिन्हभूत (तिलकादि का) धारणरूप लक्ष्म से अपना लक्ष्य विनष्ट हो जाता है। अतः विरुद्ध कार्यभूत ऐसे लक्ष्मादि का धारण अनन्य या एकान्ती वैष्णव को नहीं रखना चाहिए॥८६॥

एकस्यापि हि धर्मस्य विनाशे च विरोधिभिः ।
अनन्वयापचारेण नश्यत्येकान्तिवृत्तिता ॥८७॥

एक भी विहिताचारावि संपन्न धर्म की विरोधी भूत निन्दित क्रियाओं के अनुष्ठानों से नष्ट हो जाने पर धर्म के न करने पर दोष से एकांती वृत्ति का विनाश हो जाता है॥८७॥

परमैकान्तिनां धर्मः कृते पूर्णः प्रवर्तते ।
क्षीयमाणः क्रमेणायं कलौ स्थास्यन्ति वा न वा ॥८८॥

परमैकान्तितारूप धर्म कृतयुग में पूर्णरूप में स्थित रहेगा तथा युगादि क्रम में क्रमशः

क्षीण होते हुए यही परमैकान्तिता धर्म कलियुग आने पर स्थित रहेगा अथवा नहीं (अर्थात् कलियुग में यह नैष्ठिक धर्म विरलरूप में हो जाएगा)॥८८॥

नानाकामहृतज्ञाना नानादैवतयाजिनः ।
नरा भगवदैकान्त्ये न स्थास्यन्ति कलौ युगे ॥८९॥

अनेक कामना या अभिलाषाओं को रखने से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गयी हो, ऐसे लोग जो अनेक देवगण का इष्ट रखते हुए उनकी पूजा करनेवाले होते हैं वे मनुष्य कलियुग में भगवदेकान्त्य कि परमैकान्त्यभाव में स्थित नहीं रहेंगे॥८९॥

परं भागवतं वर्त्म दृष्ट्वापि कलिमोहिताः ।
प्रभवन्ति न विद्वाँसस्त्यक्तुं पूर्वान्धवर्त्मनीम् ॥९०॥

कलियुग के प्रभाव से मोह को प्राप्त ऐसे मनुष्य परमश्रेष्ठ भागवत मार्ग को जानने वाले एवं विद्वान् होकर भी वे अपने पूर्वजों के द्वारा अनुसृत एवं रूढ़ मार्ग को छोड़ने में समर्थ नहीं होंगे॥९०॥

भविष्यन्ति कलौ केचित् क्वचिदेकान्तिनो हरेः ।
मोहयिष्यन्ति च परे कुतर्कैस्तान् कुदृष्टयः ॥९१॥

अतएव कलियुग में श्रीनारायण के भक्तिभाव से एकान्ती-जन किसी स्थान पर कुछ ही बचे होंगे। (अल्पमात्रा में ही प्राप्त होंगे) और उन्हें भी कुछ तार्किक या हेतुवादी जन अपनी अपनी बुद्धि से किये गये कुतर्कों से भटका कर मोह में डाल देंगे (भ्रान्त बना डालेंगे)॥९१॥

निरीश्वराः कर्मफला निष्क्रिया ब्रह्मवादिनः ।
परावरविमूढाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ॥९२॥

उस समय कलियुग में कर्मादि अनुष्ठान में लगे हुए तथा ईश्वर की भक्ति न करनेवाले नास्तिकजन होंगे और कुछ ब्रह्मवादीजन क्रियादि-अनुष्ठान से हीन (राहुमीमांसक) होंगे तथा कुछ पर (श्रेष्ठ) तथा अपर (हीन) ज्ञान से रहित होंगे॥९२॥

क्षीणायुर्ज्ञानशक्तित्वान्मनुष्याणां कलौ युगे ।
विद्यानां परमा विद्या न्यास एव परायणम् ॥९३॥

कलियुग में जब पुरुषों की आयु क्षयशील या अल्पायु रहने से बहुकाल साध्य उपाय करने में अशक्त होने तथा ज्ञानशक्ति के भी क्षीण या अल्प रहने के कारण उस समय विद्याओं में उत्तम विद्या कहलाने वाला केवल 'न्यासयोग' ही उनके लिये उपयुक्त उपायभूत (सहायक) होगा (अन्य दूसरा कोई नहीं)॥९३॥

कर्म ज्ञानञ्च भक्तिश्च साधनानि मनीषिणाम् ।
न्यास एवाचिरात् सिद्धिं वाञ्छतां सर्वदेहिनाम् ॥९४॥

ज्ञानीजन के कर्म, ज्ञान तथा भक्तियोग ही साध्यभूत मोक्ष के साधन (द्वारभूत) माने गये हैं परन्तु सभी शरीरधारी प्राणियों के लिये शीघ्र सिद्धि को देनेवाला केवल एक 'न्यास-योग' ही है॥९४॥

ज्ञानानन्दमयो नित्यः शुद्धो देहान्तरं हरेः ।
जीवोऽयं संसरत्यस्य माययैव विमोहिताः ॥९५॥

यह ज्ञान तथा आनन्दमय स्वरूपवाला जीव जो नित्य तथा शुद्ध श्रीहरि का दूसरा शरीरभूत माना जाता है परन्तु यह उसी हरि की अधीन माया से विमोहित होकर जन्म मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है ॥९५॥

अनीश्वरोऽहमीशोऽहमिति धीर्मायया हरेः ।
भवेत् सा संसृतेर्मूलं तं प्रपद्यैव तां त्यजेत् ॥९६॥

मेरा कोई ईश्वर नहीं अथवा मैं ईश से रहित या उसे न माननेवाला हूं अथवा मैं ही ईश्वर हूँ ऐसी श्रीहरि की माया से विमोहित होने पर बुद्धि हो जाती है। यही बुद्धि संसार का मूल है अतः श्रीहरि की प्रपत्ति का न्यासयोग धारण कर इस माया का अन्त किया जाता है जिससे माया का त्याग (मोहनाश) संभव होता है॥९६॥

ज्ञानानन्दमयोऽनन्तो दिव्यात्मगुणविग्रहः ।
नारायणो जगद्योनिः प्राप्यो लक्ष्मीपतिः स्वयम् ॥९७॥

इस प्रकार नारायण भगवान् जो ज्ञान तथा आनन्दमय रूपवाला है, जो दिव्य आत्मा, गुण तथा शरीर वाला है जो संसार की सृष्टिका आधार है वही लक्ष्मीपति स्वयं ही प्राप्य हो जाता है॥९७॥

आब्रह्मलोकाल्लोकानां यदैश्वर्यं न तद् ध्रुवम् ।
अथ नित्यं महत्साधु यद्दास्यं परमात्मनः ॥९८॥

(सृष्टिकर्ता ब्रह्मदेव के) ब्रह्मलोक से लेकर सभी सातों लोकों का जो ऐश्वर्य या सम्पत्ति है वह सभी स्थिर रहनेवाली (शाश्वत) नहीं है। केवल जो नित्य, महान् तथा उपयुक्त वस्तु है वह परमात्मा श्रीहरि की दास्यभाव में स्थिति ही है॥९८॥

एवं-विधस्वधर्मेण युक्तस्यानन्यचेतसः ।
नित्यमाराधनं विष्णोर्यत् तद्दास्यमिहोच्यते ॥९९॥

अतएव इस प्रकार अपने नित्य तथा नियत दास्य धर्म में अवस्थित रहनेवाले तथा

एकान्ती (अनन्य चित्तवाले) का जो नित्य ही श्रीहरि की आराधना में रत (दास्य भाव में स्थित) रहना है वही 'दास्य' या कैङ्कर्य भाव है।।९९।।

अनुज्ञाताः स्त्रियश्चैवमर्चयन्त्यो जगद्गुरुम् ।
यथार्हमपि शूद्राद्याः सर्वे यान्ति परां गतिम् ।।१००।।

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायाः परिशिष्टे प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

भगवान् के आराधना कर्म दास्यभाव में स्थित होकर उनकी अर्चना करने में स्त्री शूद्र आदि को भी आचार्यों ने मान्यता दी है।अतएव इस प्रपत्ति को उपयुक्त रूप में प्रयुक्त या अनुष्ठित करनेवाले ये स्त्री शूद्रादि सभी जन परमगति मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।।१००।।

नारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायां परिशिष्टे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

नारदपञ्चरात्र में भारद्वाजसंहिता के परिशिष्ट के प्रथमाध्याय की
तत्वप्रकाशिका नामक हिन्दी व्याख्या सम्पूर्ण

परिशिष्टे
अथ द्वितीयोऽध्यायः

उपासितगुरोर्वर्षं विष्णोर्दास्यमभीप्सतः ।
विहिताः पञ्च संस्कारा युक्तस्यैकान्त्यहेतवः ॥१॥

अथ परिशिष्टे द्वितीयोऽध्याय

श्रीनारायण के दास्यभाव की इच्छा रखनेवाला अधिकारी एक वर्ष तक पूर्ण निष्ठा से अपने प्रपत्तिदाता आचार्य की सेवाशुश्रूषादि उपासना करे। तब शिष्य के गुणों के उपयुक्त उसे एकान्तीभाव के कारणभूत पांच विहित संस्कार (जो बतलाये हैं उन्हें) वह आचार्य सम्पन्न करवाए॥१॥

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः ।
अमी हि पञ्च संस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः ॥२॥

ये पांच संस्कार है-चक्रादि से संतप्त कर अंकन रूप ताप, ऊर्ध्व पुण्ड्र का धारण, नाम-करण, मन्त्र-ग्रहण तथा पंचम है याग। ये पाचं संस्कार गर्भाधानादि संस्कारों से विशिष्ठ है तथा इनसे शीघ्र ही मोक्षप्राप्तिका आधार ऐकान्तीभाव प्राप्त होता है॥२॥

तापयिष्यन् गुरुः शिष्यं चक्राद्यैर्हेतिभिर्हरेः ।
पुण्येऽह्नि नियतः स्नात्वा स्नातं मन्त्रजलाप्लुतम् ॥३॥
ऋचा दक्षिणतः कुर्याद् वैष्णव्या बद्धकौतुकम् ।
ततः समर्चयेद देवं स्वाचार्यां स्थण्डिलेऽपि वा ॥४॥

सर्वप्रथम आचार्य किसी पवित्र तिथि को नियमपूर्वक स्नान कर फिर मन्त्रोचार पूर्वक तीर्थादि पवित्र जल में स्नान किये हुए शिष्य को श्रीनारायण के चक्र आदि आयुधों को अग्नि में तपाकर उन्हें वैष्णवी ऋचा 'विष्णोर्नु के वीर्याणि' (शुक्ल यजु०) का उच्चारण कर शिष्य के दाहिने बाजू में स्थापित करे या बिठलावे। इस कार्य को व्यवस्थित रूप में करने के पश्चात् अपने इष्टदेव की स्थापित स्थण्डित पर या किसी बाह्यबिम्ब (प्रतिमा) में अर्चना करे॥३-४॥

पश्चिमे स्वेन मन्त्रेण कृत्वाग्नेः स्थापनादिकम् ।
मूलमन्त्रेण हुत्वाज्यं ततः प्रत्यक्षराहुतीः ॥५॥

एकां पुनश्च सर्वेण पौरुषीभिश्च षोडश ।
हुत्वा त्रीन् विष्णुगायत्र्या वैष्णव्या चाथ हेतिभिः ॥६॥

तदनन्तर श्रीहरि से पश्चिमभाग में स्थण्डिलादि पर अग्नि की स्थापना आदि कर्म सम्पन्न कर मूल मन्त्र के द्वारा आज्याहुति प्रदान कर फिर मन्त्र के प्रत्यक्षरों से आहुति करे और फिर अष्टाक्षर मन्त्र से एक आहुति देकर पुरुषसूक्त के षोडश मन्त्रों से सोलह आहुति देकर विष्णुगायत्री-'नारायणाय विद्महे' इत्यादि से तीन आहुति देवे और श्रीविष्णु के आयुधभूत पांच मन्त्रों से आहुति देवे॥५-६॥

हविर्निवेद्य देवाय तच्छेषेण तथाहुतीः ।
अथोपसन्ने हैमानि ताम्राणि राजतानि वा ॥७॥
प्रक्षाल्य पञ्चगव्येन मन्त्रतोयाप्लुतानि च ।
बिम्बानि पूर्वहेतीनां स्वभागनिहितानि वै ॥८॥
निधाय वह्नौ प्रत्येकं तत्रावाह्य स्वमन्त्रतः ।
अर्घ्यं पाद्यं तथाचम्यं गन्धं पुष्पञ्च धूपकम् ॥९॥
दीपञ्च दत्वाथाभ्यर्च्य प्रणम्याग्निसमप्रभम् ।
आचार्यः स्वयमादाय नियुक्तो वाऽथ मन्त्रवित् ॥१०॥
प्राङ्मुखस्योपविष्टस्य न्यसेद् बाहौ च दक्षिणे ।
सुदर्शनं तथा वामे पाञ्चजन्यं स्वमन्त्रतः ॥११॥

इसके पश्चात् अर्चित इष्टदेव को शेष हवि अर्पित कर उसके शेष भाग से आज्याहुति उसी विधिक्रम में प्रदान करे। इसके पश्चात् समीप में रखी हुई स्वर्ण निर्मित, ताम्रनिर्मित या रजत निर्मित चक्रादि मुद्राओं को पञ्चगव्यसे प्रक्षालित करे और मन्त्र पूर्वक जल से प्रक्षालित करे और फिर अग्नि में तपाकर प्रत्येक आयुधों का अपने मन्त्रों से आवाहन कर उनकी पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजन करे। इसके बाद शिष्य अपने अग्नि के समान तेजस्वी दीक्षादाता आचार्य को प्रणाम करे। आचार्य उस तपाये हुए हेतिमुद्राभूत श्रीहरि के आयुध को स्वयं लेकर या किसी मन्त्रवेत्ता को नियुक्त करे तो वही पूर्व दिशा में मुख रखे हुए शिष्य के दक्षिणबाहु पर उस मुद्रा को रखकर अंकित करे। इनमें सुदर्शन चक्र को दक्षिण तथा पाञ्चजन्य को बायीं भुजा पर विहित मन्त्रों के साथ अंकित करे। (इनमें सुदर्शन चक्र को दक्षिण तथा पाञ्चजन्य को बायीं भुजा पर अंकित करना चाहिए।) ये दोनों आयुध समान (ही) अंकित किये जाते हैं॥७-११॥

एवं गदां धनुः खड्गं ललाटे मूर्ध्नि वक्षसि ।
चक्रं वा शङ्खचक्रे वा धारयेत् सर्वमेव वा ॥१२॥

इसी क्रम में पाञ्चरात्रविधान के अनुरूप क्रमशः गदा, धनुष तथा खड्ग की हेति मुद्राओं को ललाटप्रदेश, मूर्धिवस्थान तथा वक्षःप्रदेश पर अपने अपने मन्त्रों के साथ अंकित करे, इस विधि में भावनानुरूप केवल चक्र ही धारण किया जावे अथवा दोनों बाजुओं में चक्र और शंख ही धारण करे या फिर पांचों आयुधों को अंकित किया जाता है॥१२॥

तन्त्रं समाप्य देवेशं सहशिष्यः प्रदक्षिणम् ।
कृत्वा प्रणम्य सान्निध्यं प्रार्थ्य शेषं समापयेत् ॥१३॥

इसके पश्चात् होमविधानादि की शेष विधि उतरार्चनादि विधान के साथ पूर्ण करे और अपने ही नवदीक्षित शिष्य के साथ इष्टदेव नारायण की प्रदक्षिणा कर सान्निध्य की प्रार्थना कर क्षमायाचना के साथ इस यज्ञादि कार्य को सम्पन्न कर समाप्त करे॥१३॥

कुर्यात् सर्वत्र कर्मान्ते द्विजैः पुण्याहवाचनम् ।
आचार्यस्यार्चनञ्चैव वासःस्रग्भूषणादिभिः ॥१४॥
सर्वमङ्गलसंयुक्तमिति चिह्नानि शार्ङ्गिणः ।
धारयित्वा यथोत्साहं वैष्णवानभितर्पयेत् ॥१५॥

वह इस कर्म के अन्त में सर्वत्र ब्राह्मणादि के द्वारा पुण्याहवाचन सम्पन्न करे और आचार्य का वस्त्र, पुष्पमाला, भूषणादि से पूजन तथा सम्मान आदि करे॥१४॥

इस प्रकार श्रीविष्णु के आयुधरूप चिन्हों को सभी मांगलिक कर्म तथा भावना से युक्त रहकर उत्साह के अनुरूप धारण करना चाहिए तथा शक्ति के अनुसार वैष्णवजन को प्रसाद, भोजनादि से संतुष्ट करना चाहिए॥१५॥

धारयिष्यँस्ततः शिष्यमूर्ध्वपुण्ड्रान् यथाविधि ।
पुण्येऽह्नि नियतः स्नात्वा पूर्ववद्बद्धकौतुकम् ॥१६॥
उपवेश्याथ देवेशं भोगैर्दीपान्तमर्चयेत् ।
स्थण्डिलं कल्पयेत् पश्चात् पुरुषस्य प्रमाणतः ॥१७॥

इसके बाद आचार्य विधिवत् शिष्य को ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करवाते हुए आगे किसी पुण्यपर्व या पवित्र उत्सवादि तिथि को उस नियमानुचारी शिष्य को (पूर्ववत् पवित्र होकर) समीप बिठावें तथा अपने इष्टदेव श्रीहरि की विविध उपचारों से दीपदान तक अर्चना करे। इसके उपरान्त यज्ञकर्ता पुरुष के हस्त के प्रमाण से यथोचित् स्थण्डिल का निर्माण करें॥१६-१७॥

स्थानानि सैकतान्यत्र वर्णचूर्णमयानि वा ।
कुर्याद् द्वादश पूर्वादिचतुर्दिक्षु समान्तरम् ॥१८॥

तथा मध्येऽस्य चत्वारि तेष्वभ्यर्चासनं पृथक् ।
केशवादीस्तँत्र तत्र वासुदेवादिकाँस्तथा ॥१९॥
प्रत्येकञ्च यथारूपं ध्यात्त्वा नामभिरावहेत् ।
हरिरत्तैस्तथार्घ्याद्यैरर्चयेत तान्यथाक्रमम् ॥२०॥

इस स्थण्डिल पर बालुका (रेती) से या वर्णचूर्ण से पूर्व से लेकर बारह ऊर्ध्वपुण्ड्रस्थानों को बनावे जिनमें परस्पर दूरी एक समान रखी जावे। इस स्थण्डिल के मध्य चार स्थान रखे तथा इस प्रकार इन सोलह स्थानों का प्रथम गन्धादि से अर्चन कर पृथक् आसनों पर केशवादि तथा वासुदेव आदि प्रत्येक का ध्यान कर उनके नामोच्चारण से आवाहन करे तथा बीच में रखे गये चार स्थानों पर वासुदेवादि चतुर्व्यूह का ध्यान कर उनका नामोच्चारण द्वारा आवाहन करे तथा बाद में इन सभी का यथाक्षण क्रमशः अर्घ्यादि समर्पण कर अर्चन करे तथा अन्त में हवि प्रस्तुत करे॥१८-२०॥

परीत्य सहशिष्येण सर्वांस्तान् प्रणिपत्य च ।
उपविश्याथ शिष्याय प्रणिपत्योपसीदते ॥२१॥
एषां नामानि रूपाणि यथावदुपदर्शयेत् ।
शिष्यो हृदि समावेश्य तान् सर्वान् क्रमयोगतः ॥२२॥
निर्घृष्य मृत्स्नां विधिवन्मूलमन्त्राभिमन्त्रिताम् ।
आदायाङ्गुलिभिर्दद्याल्ललाटाद्यूर्ध्वपुण्ड्रकान् ॥२३॥

इसके पश्चात् अर्चित कर इन सभी केशवादि देवगण की दीक्षितेच्छु शिष्य के साथ प्रदक्षिणा कर नमस्कार करे तथा उनके सम्मुख बैठ जावे। फिर देवता को प्रमाण कर बैठे हुए समीपवर्ती शिष्य को केशवादि नाम तथा उनके स्वरूप या विग्रहरूप का यथावत् परिचय वर्णनादि करे जिससे शिष्य के हृदय में इन देवों का ज्ञान हो जाए। तब शिष्य उन सभी को विधिवत् क्रमशः तिलकोपयोगी गोपीचन्दनादि (श्वेत) मृत्तिका को घिसकर मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित करते हुए ललाटादि स्थानों पर अंगुलि के द्वारा ऊर्ध्वपुण्ड्रों को लगावे॥२१-२३॥

त्रयोदश द्वादश वा चतुरो चैकमेव वा ।
नमोन्तैर्नामभिर्ध्यात्वा स्थापयेत् तत्र तत्र च ॥२४॥
केशवादीन् द्वादशसु वासुदेवं त्रयोदशे ।
केशवं वासुदेवं वा ललाटे केवलं न्यसेत् ॥२५॥
व्यूहाँश्चतुर्षु तान्नत्वा सदा सान्निध्यमर्थयेत् ।
अतो हि वैष्णवस्याङ्गं विष्णोरायतनं विदुः ॥२६॥

हविर्निवेद्य देवाय गुरुः शेषं समापयेत् ।
तत्र त्वाचार्यमभ्यर्च्य भोजयेद् वैष्णवानपि ॥२७॥

इनको त्रयोदश, द्वादश, चार अथवा एक ही संख्या में ऊर्ध्वपुण्ड्रों को अंत में नमः शद्व कहकर (ध्यान कर) लगाना चाहिए। तथा बाद में अपने अपने स्थानों पर इनकी स्थापना की जावे। यहां बारह ऊर्ध्वपुण्ड्रों पर केशव आदि देवों को स्थापित करे तथा यदि सभी देवों को एक ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाया हो तो केशव को ललाट पर और वासुदेव को गले के प्रदेश में एक ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाया जाता है, तथा चार ऊर्ध्वपुण्ड्र के लगाने के पक्ष में चारों ऊर्ध्वपुण्ड्रों को व्यूहों पर लगावे। इसके उपरांत उन सभी केशवादि को प्रणाम कर सदा सान्निध्य के लिये प्रार्थना करे। इसी कारण वैष्णव का शरीर श्रीविष्णु का निवास स्थान माना जाता है। इतना होने पर आचार्य उन देवों को हवि निवेदन करे तथा अर्चन की शेष विधि को पूर्ण कर समाप्त करे। इसके पश्चात् शिष्य आचार्य की सम्भावनापूर्वक पूजन करे। उत्सव के उपलक्ष में अन्त में वैष्णवों को प्रसादादि देकर भोजन करवाया जाए।।२४-२७।।

करिष्यन् वैष्णवं नाम वैष्णवाश्रयमेव वा ।
पुण्येऽहनि गुरुः स्नात्वा पूजयित्वा जगद्गुरुम् ॥२८॥
पूर्ववत् स्थण्डिलं कृत्वा पूर्ववत् सिकतामये ।
षोडशे पीठमभ्यर्च्यावाहयेन्नामदेवताम् ॥२९॥

नाम संस्कार की दशा में वैष्णव नाम को अथवा वैष्णवाश्रय के अर्थ वाले नाम को करने की कामना से आचार्य किसी पुण्यदिन अथवा शुभमुहूर्त में प्रथम स्नान करे तथा जगद्गुरु श्रीनारायण का अर्चन करे। तत्पश्चात् पूर्वकथित विधि के अनुसार स्थण्डिलादि का निर्माण कर उस पर सिकतादि स्थानों को तैयार कर षोड़श पीठ पर देवतादि का स्थापनादि करे तथा उनकी अर्चना कर नाम देवताओं का आवाहन करे।।२८-२९।।

भगवद्रूपिणं ध्यात्वा हविरन्तमथार्चयेत् ।
उपपन्ने ततः शिष्ये कौपीनं कटिबन्धनम् ॥३०॥
निवेद्य वस्त्रे च नवे तस्मै तं ग्राहयेद्गुरुः ।
तच्छेषं गन्धमाल्यादि तथा चान्नं निवेदितम् ॥३१॥
नाम दासादिशद्वान्तं श्रावयेत् केवलं तु वा ।
परीत्य प्रणतोऽभ्यर्च्य देवतां हृदि निक्षिपेत् ॥३२॥

तब गुरु अपने शिष्य से कौपीन तथा कटिबन्धन दो नवीन वस्त्रों को प्राप्त कर उन्हें शिष्य बनाए और उसी शिष्य को कौपीन आदि पहनवाये। और जो शिष्य कौपीन

तथा कटिबन्ध धारण कर ले तो शिष्य भी कौपीनादि गुरु को प्रदान कर ग्रहण करवावे। नामाधिदेवता की पूजा से बचे हुए गन्ध तथा पुष्प आदि के साथ निवेदित अन्नादि भी गुरु उसे दिलवाए। और उसे दासादि शब्द के अन्तवाले नाम को (जैसे अनन्तदास आदि) शिष्य को सुनवाए अथवा केवल श्रीहरि के नाम को सुनावे (जैसे-केशव, वकुलभरण आदि) फिर नामाधिदेवता की प्रदक्षिणा कर प्रणाम करे और उसकी पूजन कर नामाधिदेवता को शिष्य के हृदयप्रदेश पर रखवाना चाहिए।।३०-३२।।

हविर्निवेद्य देवाय तन्त्रशेषं समापयेत् ।
शिष्यो देशिकमभ्यर्च्य वैष्णवम् परितोषयेत् ।।३३।।

इस प्रकार इष्ट देव को हवि अर्पित कर शेष कर्म को पूर्ण करे। तब शिष्य अपने दीक्षादाता गुरु का अर्चन कर समागत वैष्णवों का प्रसादादि देकर परितोष करे।।३३।।

स्वयं ब्रह्मणि निक्षिप्तान् जातानेव मन्त्रतः ।
विनीतानथ पुत्रादीन् संस्कृत्य प्रतिबोधयेत् ।।३४।।

इस प्रकार नामसंस्कार के पश्चात् स्वयं आचार्य मन्त्रसंस्कारों से नवीन (दूसरा) जन्म प्राप्त करनेवाले तथा ब्रह्म के प्रति निक्षिप्त या पुत्रशिष्यादि को संस्कारों से संस्कृत कर मन्त्रार्थ का ज्ञान करवाए (अतएव मन्त्र संस्कार के होने पर मन्त्रार्थ का ज्ञान करवाया जाना यहां इष्ट है)।।३४।।

अनुकूलेऽहनि शुभे गुरुः स्नात्वा समाहितः ।
हुताग्निः पूर्ववच्छिष्यं निष्पाद्य कृतकौतुकम् ।।३५।।
ततः सम्पूज्य देवेशं पश्चादग्निं निधाय वै ।
स्वेन तन्त्रेण तत्राथ हुत्वा पूर्ववदाहुतीः ।।३६।।

मन्त्रसंस्कार अनुकूल नक्षत्रादि से युक्त मुहूर्तवाले दिवस में सर्वप्रथम मन्त्रप्रदाता आचार्य (गुरु) स्वयं स्नान करे तथा समाहित चित्त से वह स्थण्डिल पर अग्निस्थापनादि कर विधिवत् हवन करे तथा पूर्वविधि से शिष्य को निर्धारित प्रदेश पर बिठलाकर उसके हस्त में मंगलसूत्र को बांधकर कंकणधारी बनावे। इसके पश्चात् देवाधिदेव नारायण की अर्चना कर अपने गृह्योक्तविधान से अग्नि का स्थापन करे तथा अपने तन्त्रादि के अनुसार विधिवत् पूर्वविधि से आहुति देवे। (पूर्वकथित-'मूलमन्त्रेण' इत्यादि के अनुसार आहुति देवे)।।३५-३६।।

स्थाने हेत्याहुतीनाञ्च मूलमन्त्राहुतीः पुनः ।
हविर्निवेद्य देवाय तच्छेषेण तथाहुतीः ।।३७।।

स शिष्योऽथ गुरुः कृत्वा साग्निं देवं प्रदक्षिणाम् ।
प्रणम्य पुनरासीनः प्रणिपत्योपसेदुषः ॥३८॥
संहारादिक्रमं कुर्याद् विधिवच्छोषणादिकम् ।
अस्त्रमन्त्रेण रक्षाञ्च प्रणमय्य गुरुंस्ततः ॥३९॥
न्यासाख्यं परमं मन्त्रं वाचयित्वाऽथ बोधयेत् ।

इसके पश्चात् श्रीविष्णु के शस्त्रों की नामोच्चारपूर्वक मन्त्रादि से की जानेवाली आहुति के स्थान पर यहां मूलमंत्र से आहुति देनी चाहिए फिर इष्टदेव को हवि का अर्पण करे और शेष को भी इसी मूलमन्त्र से हवि के रूप में आहुति देकर आचार्य अपने शिष्य के साथ अग्नि तथा पूजित इष्टदेव की प्रदक्षिणा कर फिर प्रणाम करे और समीप बिठलाकर शिष्य का संहारादिक्रम से न्यास को विधिवत् सम्पन्न करे तथा शोषणादि कर्म (दाह को प्रशान्त या दबाने आदि) को करने के पश्चात् अस्त्र मन्त्रों के द्वारा रक्षण क्रिया करे। तब शिष्य को आचार्य परंपरानुगतविधि से प्रणाम करवाकर न्यासनामक परममन्त्र का उससे वाचन करवाए तथा उस मन्त्र का उच्चारण करवाकर उसका ज्ञान करवाए।।३७-३९।।

श्रीमन्नारायणः स्वामी दासस्त्वमसि तस्य वै ॥४०॥
परमीप्सुस्तमेवार्थमनुकूलो विसर्जयेत् ।
प्रातिकूल्यं सुविस्रब्धाः सम्प्रार्थ्य शरणं हरिम् ॥४१॥
व्रज तस्यैव चरणौ तत्रैवात्मानमर्पय ।
इति सम्बोधितस्त्वेवं मन्त्रेणात्मानमर्पयेत् ॥४२॥

आचार्य शिष्य को इस मन्त्र का पारंपरिक आशय बतलाते हुए उसे उपदेश दे कि श्रीमन्नारायण महालक्ष्मी से युक्त नित्यभूत तथा स्वामी है तथा तुम उस देव के किङ्कर (दास) हो। उसी नारायण को प्राप्त करने के इच्छुक होकर तुम अनुकूल सङ्कल्पविशिष्ट या आग्रह रखकर आचरण करो तथा प्रतिकूल बुद्धि का नियन्त्रण तथा विवर्जना रखो। इस प्रकार अपने रक्षण में समर्थ श्रीहरि पर विश्वास रखकर उन्हीं के चरणों की शरण प्राप्त करो। इस प्रकार श्रीहरि की प्रार्थना कर एवं गुरु से सम्बोधित उपदेश सुनकर वह शिष्य इसी मन्त्र से स्वयं को श्रीहरि को समर्पित करे।।४०-४२।।

ततश्च व्यापकान् मन्त्राननन्याँश्चाङ्गैः समन्वितान् ।
दत्वाऽस्मै पुनरेवैवं गृहीत्वा वृत्तिमादिशेत् ॥४३॥

तब व्यापक कर छः अक्षरों तथा द्वादश अक्षरों वाले मन्त्रों को न्यासादि अंगों के साथ तथा अन्य अव्यापक संज्ञक मन्त्र इसी शिष्य को उपदेश देवे तथा इसे शिष्यरूप

में मान्य कर वृत्ति का पारंपरिक उपदेश इसे प्रदान करें।।४३।।

नित्यं विष्णुपरं कर्म कुरु निन्द्यानि मा कृथाः ।
सदात्मानं विबुध्यस्व मा कामेषु मनः कृथाः ।।४४।।

तुम सदा श्रीविष्णु के अनुगत इष्ट कर्मों को करते रहो तथा निन्द्य कर्मों का आचरण छोड़ो। अपने आत्मा को सदा जागृत रखते हुए रहो तथा किसी कामना से युक्त अनुष्ठानों को मन से दूर रखो।।४४।।

यजस्व नित्यमात्मेशं मा नंसीरन्यदेवताः ।
लक्ष्यस्व लक्षणैर्भर्त्तुर्लक्षिष्टा मान्यलक्षणैः ।।४५।।

आत्माधिपति जीवेश श्रीनारायण का नित्य ही यज्ञादि से यजन (अर्चन) करना चाहिए तथा अन्य देवताओं की उपासना से दूर रहना चाहिए। अपने इष्ट का ज्ञान उनके धारण किये जानेवाले चक्रादि चिन्हों से रखो तथा इससे भिन्न अन्य लक्षणों से उन्हें मन में भी मत लाओ या इनकी कल्पना मत करो।।४५।।

उपास्व वैष्णवान्नित्यमसतो मोपसीसरः ।
गुरुं प्रणम्योमित्युक्त्वा ह्यात्मानञ्च निवेदयेत् ।।४६।।

प्रतिदिनं (नित्य) ही वैष्णवजन की सेवा सुश्रुषादि के द्वारा उपासना किया करो तथा एकान्त्यविमुख अवैष्णवजन का ससर्ग छोड़ो (अथवां उनकी संगति मत रखो)। अपने उपदेष्टा गुरु को प्रणाम करो तथा ओम् का उच्चारण करते हुए गुरु को अपने आने को निवेदित करना चाहिए।।४६।।

ततः समापिते शेषे देवमात्मनि निक्षिपेत् ।
गुरुं विधिवदभ्यर्च्च्य वैष्णवान् परितोषयेत् ।।४७।।

इस उपदेश को ग्रहण कर होमशेष की समाप्ति विधि होने के पश्चात् श्रीनारायण को अपने हृदय में स्थापित करे। यहीं 'न्यासविधि' है। तब अपने उपदेष्टा आचार्य की विधिवत् अर्चना करने के बाद वैष्णवजन को भी भोजन तथा दक्षिणादि देते हुए संतुष्ट करे।।४७।।

योजयिष्यन् गुरुः शिष्यं नित्यार्चनविधौ हरेः ।
शोभनेऽह्नि नक्षत्रे देवमभ्यर्च्च्य पूर्ववत् ।।४८।।
मन्त्रवत्तु हुतं हुत्वा निष्ठयाथोपसादितम् ।
यथोक्तविधिना पूर्वं स्थापितं शुभविग्रहम् ।।४९।।
श्रीभूमिलीलासहितं परिवारैः समन्वितम् ।
अव्यक्तपरिवारं वा देवं सङ्ग्राह्य याजयेत् ।।५०।।

अब योगसंस्कार के लिये गुरु (आचार्य) अपने शिष्य को श्रीनारायण के नित्य

अर्चन करने की विधि में लगाने के लिये किसी शुभ दिन तथा नक्षत्र को देखकर तथा पूर्वविधि के अनुसार श्रीनारायण की पूजन करे। फिर मंत्रसंस्कार में किये गये विधान के अनुसार अग्नि में होम करने के बाद नित्य उपासना करने के बाद संस्कार के लिये उक्त विधि के साथ आज्याहुति तथा अन्नाहुति का होम करने के पश्चात् आवरण से उत्पन्न प्रतिष्ठाशास्त्र के अनुसार स्थापित परमेश का शुभविग्रह श्रीदेवी तथा भूमि देवी की लीला से युक्त तथा भूषणों, आयुधों एवं परिजन, परिच्छदादि के रूप में संग्रह कर फिर यज्ञ करवाये।।४८-५०।।

श्रौतदिव्यार्षकल्पानामिष्टेनान्यतमेन च ।
स्थापनं यजनं वापि मिश्रा ह्यत्राधिकारिणः ।।५१।।

श्रौतादि कल्प में मिश्रव्यामिश्र (दिव्य) अथवा आर्ष-कल्पों के मध्य किसी एक विधि को इष्ट समझकर उसी के अनुसार स्थापना तथा यजन विधि की जावे। मिश्र अर्थात् व्यामिश्र तथा आर्ष दोनों अधिकारी हो सकते हैं। अतः किसी भी विधि को इष्टतम मानकर उसी के द्वारा स्थापनादि कार्य किया जा सकता है।।५१।।

ततः परिगृहीतेन गुरुभिर्येन केनचित् ।
विधिना याजयित्वैवमथ शेषं समापयेत् ।।५२।।

और आचार्य अपने सम्प्रदाय के अनुरूप भी इन विधियों में से किसी एक विधि को इष्टतम मानकर उसी से स्थापना तथा यजन करवाकर शेष (उत्तर) विधि को पूर्ण करवाए।।५२।।

ततः स्वकाले स्वाध्यायं ततो योगञ्च कारयेत् ।
इज्यान्ते गुरुपूजाञ्च वैष्णवानाञ्च तर्पणम् ।।५३।।

इसके बाद उसे आचार्यके द्वारा स्वाध्याय के नियत समय पर स्वाध्याय तथा योग के नियत समय पर योग करवाना चाहिए। यजन के अन्त में अपने गुरु की पूजा और वैष्णवजन को भोजनादि से तृप्त करना भी अभीष्ट है।।५३।।

केचिच्चतुर्णां पूर्वेषां क्रमं नेच्छन्ति कर्मणाम् ।
सहैकदिवसे वा द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च वा ।।५४।।

कुछ मुनियों का मत है कि इन पूर्वकथित ताप, पुण्ड्र, नाम तथा मंत्रसंस्कार नामक इन चार कर्मों में कोई क्रम नहीं माना जाए। एक दिन में भी दो संस्कार या एक वर्ष में तीन, चार तथा पांच संस्कार भी किये जा सकते हैं।।५४।।

तदान्यतमहोमान्ते कृत्वाग्न्याद्युपसम्मुखम् ।
समापयेत् प्रधानञ्च न मन्त्रस्यान्यशेषता ।।५५।।

यदि एक दिन में एक साथ अनेक संस्कारगत अनुष्ठान की स्थिति हो तो किसी एक

अग्नि की उपस्थापना अधिक विस्तृत स्थण्डितादि पर रखते हुए अग्निस्थापनादि होम कर्म करते हुए किसी अन्यतम संस्कार (जो सबके बाद क्रम में रहे उस) के होम को समाप्त करना चाहिए। (क्योंकि संस्कारों में सभी के सहैक-भाव में सम्पन्न होने के बाद ही होम कार्य सम्पन्न होता है)॥५५॥

यद्येकदिवसे पञ्च तथा मन्त्राहुतेः परम् ।
कृत्वा यागाद्यमखिलं तन्त्रशेषं समापयेत् ॥५६॥

यदि एक ही दिवस में पांच संस्कार किये जाए तो मन्त्राहुति के पश्चात् (एक ही अग्नि में) यागादि सभी कार्य किये जाएं तथा एक साथ सभी शेष कर्म पूर्ण किये जाएं (अथवा एक साथ सभी संस्कारों की समाप्ति होनी चाहिए॥५६॥

एकदेशयुतोऽप्यन्यसंस्काराणां गुणान्वितः ।
युक्तः परमसंस्कारैः स वै भागवतः स्मृतः ॥५७॥

अन्यथा सभी वर्णादि समुचित संस्कारों में कुल संस्कारों के सम्पन्न होने की स्थिति वाला रहने पर तथा पांच संस्कारों से युक्त होनेवाला गुणकारी या उत्तम माना जाता है क्योंकि वह उत्तम पांच संस्कारों से पूर्ण है तथा उसे ही 'भागवत' समझना चाहिए॥५७॥

तापस्तपांसि तीर्थानि पुण्ड्रं नाम नमस्क्रिया ।
आम्नायाः सकला मन्त्रा क्रतवः पूजनं हरे ॥५८॥

इनमें ताप तप रूप है, पुण्ड्र तीर्थभूत है (जिसका फल समस्त तीर्थों का स्नान करने जैसा है),नाम ही इष्ट की नमस्क्रिया है, मन्त्र का जप समस्त वेदों का आम्नायभूत है तथा नारायण का पूजन ही यज्ञ का सम्पादन है॥५८॥

वृत्तिर्भागवतानां हि सर्वा भगवतः क्रियाः ।
प्रायश्चित्तिरियं तस्याः सैव यत् क्रियते पुनः ॥५९॥

भागवत जन की विहित आचार वाली सभी वृत्ति श्रीनारायण की सेवा रूप है। इस सेवावृत्ति के बार बार अनुष्ठान करते रहने से दोषरूप आचरणों का प्रायश्चित्त हो जाता है। (अर्थात् प्रमाद या क्रिया लोप रूप दोष के होने पर सेवावृत्ति को दोहराने से ही प्रायश्चित होकर कर्ता की शुद्धि हो जाती है)॥५९॥

तस्मादाराधनं विष्णोः शान्तिकर्म विधीयते ।
तथैव विष्णुभक्तानां पूजनं शान्तिरुत्तमा ॥६०॥

इसलिये श्रीनारायण की आराधना ही समस्त प्रत्यवायों को दूर करने का शान्तिकर्म है और उसे ही सदा बार बार करते रहना इष्ट है। इसी प्रकार विष्णु-भक्त-जन की अर्चनादि धर्म-कर्म उत्तम शान्ति कर्म है (क्योंकि इससे

श्रीभगवान् की पूजन ही होती है)॥६०॥

मन्त्रसंस्कारयुक्तस्य न चेत् तापादिकं तदा ।
परमाख्या भवेच्छान्तिरविभागे सतामपि ॥६१॥

यदि मन्त्र संस्कार से युक्त पुरुष के तापादि संस्कार न हुए हों, परमशान्ति के हेतु परमशान्तिभूत अनुष्ठान बिना क्रम तथा विभाग के पांच संस्कार को सम्पन्न करनेवाली परमशान्ति विधि ही की जाना उचित है॥६१॥

परमाख्याथ वैयूही मूर्त्याख्या वैभवीति च ।
आनन्ती गारुडी चैव वैश्वक्सेनी सुदर्शनी ॥६२॥

इस परमशान्ति के क्रम में परमनामकशान्ति, वैयूही शान्ति, मूर्ति शान्ति, वैभव-शान्ति, आनन्ती-शान्ति, गारुडी-शान्ति, वैष्वक्सैनी-शान्ति तथा सुदर्शनी-शान्ति आती हैं॥६२॥

चतुष्टयी महाशान्तिरुपशान्तिश्चतुष्टयी ।
यथानिमित्तं कर्त्तव्यास्तथान्याः श्रीभुवादयः ॥६३॥

इनमें परमारव्य, वैयूही, मूर्त्याख्या तथा वैभवी ये चार महाशान्ति कहलाती है तथा आनन्त, गारुडी, वैष्वक्सेनी तथा सुदर्शना ये चार उपशान्ति है। जिन्हें जैसा कारण या अपेक्षा ही तदनुसार इन्हें करना चाहिए। इसी के समान भूशान्ति आदि अन्य शान्तिकर्म भी हैं जिन्हें यथानिमित्त करना चाहिए॥६३॥

दानहोमजपार्चानामेकाद्वित्र्यखिलान्वयात् ।
नैकभेदविभिन्नास्ताः पात्रोत्कर्षश्च शक्तितः ॥६४॥

ये शान्ति, कर्म, दान, होम, जप, पूजा आदि में एक, दो, तीन तथा चारों के साथ सम्बद्ध होकर अनेक भेदों से युक्त हो जाती हैं जिनमें पांचों के शक्ति के अनुसार वरण करने से शक्ति के अल्प बहुलत्व के कारण उत्कर्ष हो जाता है॥६४॥

हीना परमसंस्कारैर्देवतान्तरबुद्धयः ।
ऋत्विजौ यजमानाश्च च्यावयन्ति परस्परम् ॥६५॥

क्योंकि जो तापादि पांच परम संस्कार हैं उनमें जो हीन होते हैं तथा अनेक दूसरे देवताओं की अर्चना तथा उनके यज्ञों को जो सम्पन्न करनेवाले होते हैं तो ऐसे याजक ऋत्विक्गण तथा उनके अनुगत यजमान ये दोनों ही परस्पर (श्रीविष्णु के विमुख होने से) एक दूसरे को लक्ष्य से गिराकर (उन्हें) पतित बनाते हैं॥६५॥

अपराधेषु सर्वेषु वृत्यङ्गानां यथाविधि ।
वृत्तेश्च परिपोषाय शान्तिं शाश्वत् प्रयोजयेत् ॥६६॥

इस प्रकार के सभी वृत्ति तथा उनके अंगो के न करने या उनके विरुद्ध आचरण जैसे वृत्ति के परिपोष के लिये विधिवत् प्रतिबन्धक दुरित की निवृत्ति के लिये वृत्ति की ही शान्ति हेतु आधारभूत अनुष्ठान करना उचित है।।६६।।

करणे प्रतिषिद्धानां विहिताकरणे तथा ।
विधेया महती शान्तिर्विज्ञाय गुरुलाघवम् ।।६७।।

विहित कर्मों के आचरण न करने पर तथा प्रतिषिद्ध आचरणों के करने पर उनके द्वारा होनेवाले कारण के अल्पमात्रा में या विस्तृत रहने पर उनके गुरुलाघव का विचार कर परम आदि महाशान्ति में से जो भी उपयुक्त हो उसको सम्पन्न करना चाहिए।।६७।।

अवैष्णवेभ्यो यत्किञ्चित् प्रतिगृह्य प्रदाय वा ।
कृत्वोपशान्तिं शुद्ध्येत् परिवादे सतामपि ।।६८।।

जो वैष्णव न हों उन्हें किसी वस्तु आदि को देने अथवा उनसे किसी पदार्थ के ग्रहण करने पर गारुडी आदि उपशान्ति में से जो भी उपयुक्त या विहित हो उस शान्ति को करने पर दोष से शुद्धि होती है, किन्तु एकान्ती वैष्णव की निन्दा के अपराध पर उन्हें महाशान्ति कर्म के बाद गारुडी आदि उपशान्ति भी करना चाहिए।।६८।।

असतः प्रतिगृह्णीयात् पुत्रदारादिकं यदि ।
विधाय परमां शान्तिं वृत्तिमाचारयेन्निजाम् ।।६९।।

यदि अवैष्णवजन से पुत्र अथवा स्त्री आदि का सम्बन्धादि का योग हो तो ऐसे सम्बन्ध के हो जाने पर परमाशान्ति का कर्म करवाये तथा अपनी वैष्णव वृत्ति को उन पुत्र तथा दास आदि से भी करवाए और उन्हें अपने आचार से समान कार्यवाले बना ले।।६९।।

भजने चान्यदेवानामपचारे च शार्ङ्गिणः ।
वैयूहीं परमां वापि कुर्याच्छान्तिं विशुद्धये ।।७०।।

अन्य देवता के प्रति भक्ति रखने तथा श्रीविष्णु की इष्टदेव के रूप में उपासना में कमी कर देने पर इस उपचार (दोष) की शुद्धि के लिये वैयूही अथवा परमा नामक शान्ति कर्म को किया जाता है।।७०।।

लक्षणानामकरणे धारणे चान्यलक्ष्मणाम् ।
मूर्तिं कुर्यात्महाशान्तिमपि सौदर्शनीं तथा ।।७१।।

तापादि वैष्णव चिन्हों के धारण न करने तथा तदनुरूप कर्म से अन्य चिन्हों के धारणादि से विमुख रहने की वृत्ति में रहने पर मूर्ति नामक महाशान्ति अथवा

सौदर्शनी नामक उपशान्ति कर्म को गुरु लाघव का विचार कर करना चाहिए।।७१।।

अपचारे गुरुणाञ्च वैष्णवानाञ्च सर्वशः ।
वैष्वक्सेन्यथ वानन्ती कार्या चासन्निषेवणे ।।७२।।

वैष्णव गुरु तथा वैष्णवों के साथ होने वाले असन्निषेवणरूप उपचार होने पर वैष्वकसेनी या आनन्ती नामक शान्तिकर्म को विचार कर करना चाहिए।।७२।।

असच्छास्त्राभियोगे तु सच्छास्त्राणां निराकृतौ ।
कर्तव्या गारुडी शान्तिर्दुर्निमित्तेषु वैभवी ।।७३।।

वैष्णवशास्त्रों के विरोधी शास्त्रों के अध्ययन करने तथा वेद एवं वैष्णवादि असत् शास्त्रों के निराकरण करने पर गारुडी शान्ति कर्म करना चाहिए तथा दुर्निमित्तोंके या बुरे शकुनों के दिखाई देने पर वैभवी नामक शान्ति की जाए।।७३।।

अवैष्णवस्य भुक्त्वान्नमनिवेदितमेव वा ।
पीत्वा पादोदकं भक्त्या वैष्णवानां विशुद्ध्यति ।।७४।।

श्रीनारायण को निवेदित या अर्पण न किया गया अवैष्णवजन का अन्न खा लेने पर वैष्णवों के पादोदक को पीकर प्रायश्चित करने पर शुद्धि हो जाती है।।७४।।

सर्वपातकसम्प्राप्तौ श्रियं वा गुरुमेव वा ।
समभ्यर्च्य विधानेन तच्छेषं प्राश्य शुद्ध्यति ।।७५।।

सभी प्रकार के पातकों के किये जाने पर शान्ति के कारणीभूत अन्य पातकादि के होने पर श्री लक्ष्मी, पृथ्वी तथा अपने आचार्य का विधि पूर्वक अर्चन कर उनको अर्पित अन्नादि का शेष भाग प्रसादरूप में प्राशन करने से (श्रीशान्ति एवं भूशान्ति को ऐसे कारणों के होने पर करने से) शुद्धि हो जाती है।।७५।।

देवतान्तरशेषन्तु भुक्त्वा स्पृष्ट्वापि वा पुनः ।
वैष्वकसेनीं क्रियां कृत्वा तच्छेषं प्राश्य शुद्ध्यति ।।७६।।

(यदि) अन्य देवता के प्रसाद रूप शेषान्न को स्पर्श करने या उसे भक्षण करने का कार्य हो गया हो वैष्वकसेनी शान्तिकर्म को कर उसका शेष प्रसाद का प्राशन करने से शुद्धि हो जाती है।।७६।।

पीत्वाऽनैकान्तिनां सोमं सह पङ्क्तौ प्रभुज्य च ।
कृतश्च तेन भुक्त्वान्नं वैयूहीं प्राप्य शुद्ध्यति ।।७७।।

अवैष्णव यज्ञों में ऋत्विक् बन कर पंक्ति के साथ बैठकर सोम का पान करने और उन वैदिक ब्राह्मणों के साथ भोजन करने पर अथवा उन (अवैष्णव) ब्राह्मणों के

द्वारा पक्व अन्नादि भोजन को ग्रहण करने पर वैयूही शान्तिकर्म कर शेषान्न ग्रहण करने से शुद्धि हो जाती है॥७७॥

विप्रानैकान्तिनः प्राज्ञानृत्विजः शान्तिकर्मसु ।
गो-भू-धान्यहिरण्याद्यैः प्रभूतैः परितोषयेत् ॥७८॥

प्राज्ञ तथा एकान्तिक वैष्णव ब्राह्मणों को शान्तिकर्म में आमंत्रित करे तथा शान्तिकर्म के पूर्ण करवाने के पश्चात् उन्हें गोप्रदान, धान्य तथा हिरण्य आदि प्रभूत मात्रा में देकर संतुष्ट करना चाहिए॥७८॥

अन्ते चैषां प्रकुर्वीत सर्वेषां शान्तिकर्मणाम् ।
नारायणस्य परमां प्रपत्तिं सर्वपूरणीम् ॥७९॥

इस प्रकार पूर्व में कथित सभी शान्तिकर्मों की समाप्ति कर सभी न्यूनाधिक कर्मों की पूरक तथा समृद्धिकारक श्रीनारायण की प्रपत्ति को सम्पन्न करना चाहिए॥७२॥

शान्तिं पुण्येषु देशेषु स्वक्षेत्रे स्वगृहेऽपि वा ।
कुर्यात् पुण्येषु कालेषु स्वजन्मादिषु वा पुनः ॥८०॥

ये शान्तिकर्म पुण्य तीर्थ तथा प्रदेशों में, अपने तीर्थ या क्षेत्रों में, अपने निवास पर, किसी पुण्य काल, पुण्यकारी मुहूर्त में तथा अपने जन्मनक्षत्र अथवा जन्मदिवसादि के समय भी करना चाहिए॥८०॥

ध्यायन्नाधारशक्त्यादिपारिषद्यान्तदेवताः ।
नामभिर्वरयेद् विद्वान् परमायां विपश्चितः ॥८१॥

परमा शान्ति कर्म के अवसर पर विद्वान् आचार्य के द्वारा आधार-शक्ति से आरम्भ कर पारिषद्-देवता तक के देवगणों का ध्यान करते हुए उनके नामादि को बतलाते हुए उनका वरणादि करना चाहिए॥८१॥

आसनेषु यथाकाममुपवेश्य यथाक्रमम् ।
पाद्यमर्घ्यं तथा भोगान् दद्यात् तेभ्यश्च मन्त्रतः ॥८२॥
स्नातेभ्यश्च यथाकामं वस्त्रभूषानुलेपनम् ।
माल्यानि धूपदीपौ च दद्याद् भक्त्या धनानि च ॥८३॥
अष्टोत्तरशतावृत्त्या जपं होमञ्च कारयेत् ।
स्थण्डिले तत्तदर्चाञ्च सर्वं कुर्वीत् वा स्वयम् ॥८४॥

आधारशक्ति आदि स्थानों पर वरण किये गये ब्राह्मणों के द्वारा उन उन मन्त्रों की एक सौ आठ बार आवृत्ति से होम करवाया जाता है। आधारशक्ति आदि के स्थण्डिल पर उन सभी की अर्चा का कार्य भी स्वयं अथवा ब्राह्मणादि से करवाना

चाहिए। (यह सभी जप तथा होमादि कार्य यज्ञमान शिष्य स्वयं भी कर सकता है)।।८२-८४।।

सर्वत्राग्निमुखस्यात्ते समिदन्नघृताहुतीः ।
भोजयित्वा द्विजवरान् समभ्यर्च्य विसर्जयेत् ।।८५।।

अष्टोत्तर शत आवृत्ति को देते हुए किया जानेवाला होम अग्निस्थापन के बाद अग्निमुख होने पर समिधा, अन्न, घृतादि की आहुति प्रदान कर करते हैं (अर्थात् अष्टोत्तरशत संख्या में समिधायें, अन्न तथा घृत की आहुतियां प्रदान करते हैं।) होम की समाप्ति पर उत्तम ब्राह्मणों को भोजन करवाकर तथा उनकी यथोत्साह अर्चना कर उन्हें प्रस्थान करवाए।।८५।।

चतुरो वासुदेवादीन् वैयूह्यां वरयेद् द्विजान् ।
मूर्त्याख्यायां द्वादशैव केशवादीननुक्रमात् ।।८६।।

वैयूही शान्तिकर्म में वासुदेवादि चार व्यूह देवों के नाम पर चार ब्राह्मणों का वरण करना चाहिए। मूर्तिनामक शान्ति कर्म में केशवादि क्रम के बारह ब्राह्मणों का वरण करे।।८६।।

मत्स्यं कूर्मं वराहञ्च नृसिंहं वामनं तथा ।
वैभव्यां वरयेद् विप्रान् यथेच्छमितरानपि ।।८७।।

वैभवी शान्तिकर्म में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह तथा वामन नामक पांच ब्राह्मणों का वरण करे तथा इच्छानुसार अन्य वरण कर इसे परशुरामादि दस संख्या तक किया जा सकता है।।८७।।

आनन्त्याञ्चतुरोऽनन्तशेषनागेन्द्रभूधरान् ।
गारुड्याङ्गरुडं तार्क्ष्यं वैनतेयं पतत्पतिम् ।।८८।।

आनन्ती शान्तिकर्म में अनन्त, शेष, नागेन्द्र तथा भूधर नामक चार (संख्या में) ब्राह्मणों का वरण करे तथा गारुडी शांतिकर्ममें तार्क्ष्य, वैनतेय तथा पतत्पति नामक तीन ब्राह्मणों का वरण करें।।८८।।

गजाननाद्यैः सहितं विष्वक्सेनं तदर्चने ।
सौदर्शिन्यां शङ्खगदाशार्ङ्गखड्गैः सुदर्शनम् ।।८९।।

विष्वक्सेनी शान्तिकर्म में गजानन आदि (गजानन, जयत्सेन, हरिर्वक्त्र, काल, प्रकृति, संज्ञादि) पारिषद सहित विष्वक्सेन का वरण करे तथा सौदर्शिनी शान्तिकर्म में शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग के साथ सुदर्शन नाम से वरण करना चाहिए।।८९।।

ऋद्धया समृद्धया कीर्त्या च श्रीशान्त्यां वरयेच्छ्रियम् ।
क्षमां प्रतिष्ठां बहुलां भुवश्चाथ भुवोऽर्चने ॥९०॥

श्री शान्तिकर्म में ऋद्धि, समृद्धि तथा कीर्ति के सहित श्री लक्ष्मी देवी का वरण तथा भूशान्ति के कर्म में क्षमा, प्रतिष्ठा तथा बहुला के साथ श्रीपृथ्वी देवी का वरण किया जावे॥९०॥

गुरूँस्तदर्च्यान् विप्रान् वा विधिनाभ्यर्च्य शक्तितः ।
यद्द्यात् सा परा शान्तिः सर्वपातकनाशिनी ॥९१॥

अपने गुरुभूत, आचार्य, उनके द्वारा मान्य विद्वान् ब्राह्मणों की विधिपूर्वक अर्चना करते हुए उन्हें जो भी दक्षिणादि प्रदान की जाती है वह सभी पातकों का विनाश कर परमशान्तिकर्म (विशिष्ट रूप में) मानी गयी है॥९१॥

प्रधानं स्थण्डिलं मध्ये महावेद्यां प्रकल्पयेत् ।
प्रत्यङ्मुख प्राङ्मुखः सन् सर्वञ्च परिकल्पयेत् ॥९२॥

महावेदी पर प्रधान स्थण्डिल सदा पश्चिमामिमुखी बनाया जावे तथा अन्य सभी पूर्व-मुख के रहने चाहिए॥९२॥

इत्येवं शान्तयः प्रोक्ताः संस्काराश्च द्विजन्मनाम् ।
यथार्हमितरेषाञ्च योजनीयः क्रियाविधिः ॥९३॥

इस प्रकार मैंने द्विजों के लिये किये जाने वाले संस्कारों तथा शान्ति कर्मों का कथन किया। इनकी योजना योग्यतानुसार इनमें तथा इसी प्रकार अन्य जन में रखी जाए तथा अनुष्ठानादि की विधि भी तदनुरूप रहे॥९३॥

इति संस्कारसम्पन्नः सम्प्राप्य गुरुवश्यताम् ।
आराधनं हरेरेव कुर्वाणः कर्म चोदितम् ॥९४॥

इस प्रकार बतलाये गये विधान से सभी संस्कारों से सम्पन्न होकर तथा अपने आचार्य की आज्ञा में स्थित रहते हुए उनका सान्निध्य प्राप्त करते हुए श्रीनारायण का ही समाराधन रूप विहित कर्मों का पालन करना चाहिए॥९४॥

तदप्रीतिकराण्याशु प्रतिषिद्धानि वर्जयेत् ।
पश्यन् सदागमैः स्वेशफलोपायविरोधिनः ॥९५॥
तथा कुदृष्टिकृपणशास्त्राणि परिवर्जयेत् ।
भक्त्या परमया नित्यमर्चयेत् पुरुषोत्तमम् ॥९६॥
कुदृष्टिकल्पितान् देवान् कामजाँश्च विवर्जयेत् ॥९७॥

ऐसे कर्म जो श्रीहरि के चित्त को कलुषित करते हों तथा जो प्रतिषिद्ध कर्म हों तो ऐसे कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिए। आगमादि वैष्णवशास्त्रों के द्वारा अपने

इष्ट तथा फल की प्राप्ति के प्रतिकूल एवं अशुद्ध दृष्टि से परिकल्पित शास्त्रों का भी परित्याग करना उचित है। अतएव परमश्रद्धा भक्ति से नित्य ही श्रीपुरुषोत्तम विष्णु की अर्चना करे तथा दृष्टि को या पुरुषोत्तम से भिन्न देवगण की उपासना को वर्जित करे तथा विशेष कर काम्य कर्मों की ओर अभिमुख न हो॥९५-९७॥

धृतोर्ध्वपुण्ड्रश्चक्राद्यैरङ्कितो हरिलाञ्छनैः ।
मुद्रापुण्ड्राङ्कनादीनि तामसानि विवर्जयेत् ॥९८॥

वह स्वयं ऊर्ध्वपुण्ड्र को तथा श्रीहरि के चक्रादि आयुधों से अंकित शरीर का रहता है। अतः तामस गुणवाले शास्त्रों में परिकल्पित मुद्रादि तथा अन्य देवता के पुण्ड्रादि का धारण करना भी छोड़ दे। (जो कि लक्ष्यविरुद्ध आचरण के हों)॥९८॥

आचार्यप्रमुखान्नित्यं विशेषेण प्रसादयेत् ।
प्रच्युतान् प्राकृताँश्चैव सर्वत्र परिवर्जयेत् ॥९९॥

वह अपने आचार्य आदि प्रमुख वैष्णव जन को विशेष रूप से प्रसन्न रखता रहे तथा वृत्ति को छोड़ने या उपेक्षा करनेवाले और अन्य प्राकृतजन की सदा ही उपेक्षा करे तथा उनकी संगति में न रहे॥९९॥

आतिष्ठेत् पारमैकान्त्यमपायानपमार्जयन् ।
अपायवदिहैकान्त्यमशुद्धकरणान्वयात् ।
निरापाय भवेत् प्राप्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१००॥

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायाः परिशिष्टे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अपने उपायुक्त दोषों का परिमार्जित करते हुए पारमैकान्त्य भाव में स्थित रहे क्योंकि अशुद्ध कर्मादि के आचरण से तथा उनसे सम्बन्ध रखने से अपाय के समान दोषवता आ जाती है। अतएव सदा अपायों से रहित होकर यदि रहेगा तो यही कर्म श्रीनारायण के परमपद को प्राप्त स्थिति निर्माण करेगा॥१००॥

नारदपंचरात्र की भारद्वाजसंहिता के परिशिष्ट भाग की तत्वप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्या का

द्वितीय अध्याय समाप्त

परिशिष्टे

तृतीय अध्याय

भूयः स्फुटतरं वक्ष्ये शृणुध्वं मुनिसत्तमाः ।
सनातनीं सतां वृत्तिं परेषां लक्षणानि च ॥१॥

हे मुनियो! अब मैं पुनः आपको अविच्छिन्न सम्प्रदाय वाली सतानतभूत सन्तों की वृत्ति तथा असन्तों के लक्षणों को बतलाता हूं॥१॥

सर्वभूतान्तरात्मानमीशमाराध्यमच्युतम् ।
बुद्ध्वा चरन्ति सुधियो धर्मांस्तत्प्रीतये परम् ॥२॥

जो सन्त या ज्ञानीजन है वे सभी जीवों के अन्तराल में स्थित रहनेवाले तथा उन सभी के स्वामी श्रीनारायण की आराधना को जानकर उनकी प्रीति के सम्पादनार्थ केवल स्वधर्मादि का आचरण करते हैं॥२॥

व्यामुग्धमतयः केचित् क्षुद्राः नानाफलार्थिनः ।
तमेव हि यजन्त्यन्ये तथान्या अपि देवताः ॥३॥

अज्ञभाववाले (कुछ) अनेक (दृष्ट तथा अनुश्रविक) फलों की आकांक्षा करने वाले होकर कुछ व्यक्तियों के अन्य देवताओं का भजन करने पर भी उनमें सभी में स्थित अच्युत का ही अर्चन करते हैं। (इसी प्रकार अन्य देवता का भजन भी अन्तःस्थित अच्युत भाव से करने से वे भी सन्त हैं।)॥३॥

कल्पिताः कर्मबन्धेन विष्णुमायाविमोहिताः ।
अपि देवा न जानन्ति स्वात्मानं किमुतापरे ॥४॥

अपने संस्कार तथा कर्मों के बन्धन से कल्पित और श्रीविष्णु की माया से मोह प्राप्त रहने के कारण जब देवगण की आत्मा के अन्तस्थ श्रीविष्णु का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हो तो फिर मनुष्य आदि अन्यों को यह तत्व कैसे जानने में आ सकता है॥४॥

वदन्ति धर्मान् व्यामिश्रान् वेदाः स्कन्धमयाः किल ।
श्रुतिर्मोक्षमयी प्राह शुद्धं मोक्षैकलक्षणम् ॥५॥

अनुवाकादि स्कन्ध तथा उपनिषदात्मक वेद भी देवतान्तर्यामिभूत आराधना वाले मिश्रित (धर्मों का) काम्य धर्मों का कथन करते हैं तथा मोक्षमयी (मोक्षपुण्य) श्रुति मोक्षप्रयोजन रूप धर्म को ही शुद्ध (भी) कहती है॥५॥

प्रायेण धर्मान् व्यामिश्रानूचुर्मन्वत्रिपूर्वकाः ।
शुद्धाँस्तु वयमन्ये च पञ्चरात्रपथानुगाः ॥६॥

मनु तथा अत्रि जैसे शास्त्र एवं धर्मवेत्ता तथा पुरातन स्मृतिकारों ने प्राय इसी प्रकार के वेदानुगत व्यामिश्र धर्मों के प्रतिपादन करते हुए धर्मविषयक बातें बतलाई हैं। पांचरात्र आगम के अनुगत धर्म के अनुगामी हम तथा हमारे जैसे अन्य अनुगत विद्वानों ने शुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर धर्मतत्व को बतलाया॥६॥

व्यामिश्रः पञ्चरात्रेऽपि धर्मः क्वाप्यनुकृष्यते ।
तत्र चागमसिद्धान्ते शुद्ध एवोपदिश्यते ॥७॥

पंचरात्र आगम में भी कहीं कहीं व्यामिश्र धर्म का अनुकर्षण कर धर्म का आगमानुमत प्रतिपादन किया है पर सिद्धान्तरूप में इस आगम में शुद्ध धर्म का उपदेश ही रखा गया है॥७॥

हरेः शुद्धतनोः शुद्धं व्यामिश्रं कल्पितात्मनः ।
अशुद्धं कल्पितानान्तु केवलं यजनादिकम् ॥८॥

इनमें रज तथा तमोगुण से कल्पित शरीरों से भिन्न देवताओं के अन्तः स्थित अन्तर्यामीभाववाले सत्वमय शुद्धशरीर श्रीहरि के आराधनात्मक धर्म को शुद्ध, रज तथा तम गुणों से कल्पित इंद्राग्निदेवगणों को अन्तर्यामिभूत हरि से व्यामिश्र, केवल यजनादि कर्म हेतु शुद्ध तथा रज आदि गुणों से कल्पित अन्य देवता का मात्र यजनादि आराधन अशुद्ध होता है॥८॥

ते ह्यशुद्धतमाः सर्वे तमोनिष्ठतया स्मृताः ।
श्रीकण्ठप्रमुखैरुक्ता ये धर्माः कामकामिनाम् ॥९॥

श्रीकण्ठ आदि के द्वारा तामस तन्त्रादि में प्रसिद्ध तम गुणों से कल्पित यजनादि कर्म होने के कारण ऐसे धर्म अशुद्धतम माने गये हैं जिनमें किसी विशिष्ट कामना को लेकर अनुष्ठानादि विहित हों (तथा वेदबाह्य होने से कुदृष्टि निर्माण करती हैं अतः ये निष्फल भी हैं)॥९॥

त्रैविद्यानां सदा मिश्राः प्रायेण विहिताः क्रियाः ।
ज्ञानं भक्तिश्च वैराग्यं सर्वं शुद्धमुदाहृतम् ॥१०॥

त्रैविद्य वेदनिष्ठ प्रायुर्चेण मिश्ररूप की क्रियाएं करते हैं तथा विहित भी हैं, परंतु जो ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के अनुगत क्रियादि हैं वे 'शुद्ध' होती हैं क्योंकि

इनमें परमैकान्तभाव से अन्तर्यामी रूप का आराधन कर्म होता है॥१०॥

न्यासनिर्द्धूतपाप्मानः प्रियैः प्रियतमैरपि ।
मिश्रैः शुद्धैश्च नियमैर्विष्णुमाराधयन्ति ये ॥११॥

प्रपत्तिरूप बल के परिग्रह से न्यासयोग के द्वारा जिसने अपने समस्त पातकों को समाप्त कर दिया वे त्रैविद्य जन भी क्रमशः प्रिय, प्रियतम तथा मिश्र और शुद्ध कर्मोंवाले नियमों से श्रीहरि की आराधना करते हैं॥११॥

निन्दितक्रियया हानाद्विहीनानाञ्च कुप्यति ।
ऐच्छैरपि पुनः शुद्धैः परं तुष्यति माधवः ॥१२॥

विहित कर्मों के परित्याग करने से तथा निषिद्ध कर्मों के आचरण करने से श्रीनारायण अप्रसन्न होते हैं परंतु किसी इच्छा के अधीन किये जाने वाले अनुष्ठानादि शुद्ध कर्मों से श्रीनारायण संतुष्ट होते हैं॥१२॥

विशुद्धपरिवारस्य नित्यं शुद्धा हरेः क्रिया ।
तयैव शुद्धकर्मेति त्रैविद्योऽपि न गद्यते ॥१३॥

रजस्तमः गुणों से अस्पष्टः विशुद्ध सात्विक गुणों से परिवृत श्रीहरि की आराधना क्रिया भी शुद्ध रूपवाली होती है तथा इसी प्रकार नित्यार्चनात्मक क्रिया के द्वारा त्रैविद्य व्यामिश्र धर्म का अनुष्ठान करनेवाला भी शुद्ध कर्म का अनुष्ठाता माना जाता है॥१३॥

शुद्धो मिश्रस्तथान्यो वा समर्पितभरो हि यः ।
सद्यः स वासुदेवस्य कैङ्कर्यानन्दमश्नुते ॥१४॥

तथा जो शुद्ध कर्म का व्यामिश्र कर्म तथा अन्य अशुद्ध कर्म के अनुष्ठान करने पर श्रीहरि की प्रपत्ति को न्यासयोग के द्वारा धारण करता हो तो शीघ्र ही वह श्रीनारायण के कैकर्यभाव तथा मुक्ति के परमानन्द का सुख प्राप्त करता है॥१४॥

शुद्धादीनान्तु धर्माणामधिकारादियोगतः ।
क्रियते पुरुषादीनां व्यपदेशस्तथाविधः ॥१५॥

शुद्ध आदि धर्मों का अधिकारादि के योग के आधार पर पुरुषों का उनके उपयुक्त आचारों के पौर्वापर्य तथा गुणावगुण के परामर्श को विचार कर इस प्रकार शुद्धधर्माधिकारी आदि के रूप में व्यवहार रखा गया है॥१५॥

एकायने ह्यधिकृताः सर्वे यान्त्यञ्जसा हरिम् ।
ये च नानापथेऽन्यत्र प्रतिबुद्धास्तु केचन ॥१६॥

अतएव जो मूलवेदों के अधिकृत ब्राह्मणादि वर्ण हैं वे सभी अविलम्ब श्रीहरि को

प्राप्त करने के अधिकारी (भी) हैं परन्तु जो त्रैविद्य के अनुसार विभिन्न पदों से त्रिवर्गमात्र की साधना में लग्न हैं उनमें कुछ ही अपवर्ग तथा उसके उपायों के साधनों के अनुष्ठान करने में सक्रिय होकर जागृत रहते हैं। क्योंकि वे अपवर्ग तथा उसके उपाय का ज्ञान रखने से श्रीहरि को प्राप्त कर लेते हैं)॥१६॥

एकायना व्रजन्तोऽपि त्रैविद्या वा स्ववर्त्मना ।
स्खलतो दृष्टिवैषम्याच्च्यवन्त्यैकान्त्यतो हरेः ॥१७॥

और ऐसे एकान्ती वैष्णव त्रैविद्य का ज्ञान रखने के कारण तथा उनके अनुगत स्वयं रहते हुए भी दृष्टिगत विषमता को (साथ में) रखने के कारण विपरीत ज्ञान (के सहानुगम) से श्रीहरि के एकान्तभाव से स्खलित हो जाते हैं तथा अन्त में उनको इष्ट प्राप्ति नहीं हो पाती है॥१७॥

यायाच्छुद्धेन मार्गेण मिश्रेष्वन्यतमेन वा ।
परं भगवदैकान्त्यं पूर्वैराचरितेन वा ॥१८॥

अतएव शुद्ध कर्म के मार्ग का अनुगमन करना उचित है अथवा मिश्र या इनमें से किसी एक का अनुगमन करे जो अपने परम्परा में पूर्वजों के द्वारा चली आ रही हो तथा वे ऐसे मार्ग से श्रीनारायण के परम एकान्त्य को प्राप्त करें॥१८॥

यथैवाश्रमिणः पूर्वे व्रजन्त्युत्तममाश्रमम् ।
तथैव शुद्धं त्रैविद्यामिश्रं नैकायनाः पुनः ॥१९॥

जैसे पूर्व के ब्रह्मचर्य आदि आश्रम गृहस्थाश्रम जैसे उत्तम आश्रम की प्रगतावस्था प्राप्त कर लेते हैं, इसी प्रकार त्रैविद्य व्यामिश्र कर्मानुष्ठानों से एकायनभाव प्राप्त करते हैं पर शुद्धकर्म मिश्रभाव को प्राप्त नहीं करते॥१९॥

ऐच्छश्च नियतश्चैव नित्यनैमित्तिकं तथा ।
काम्यञ्च विविधं सर्वं शुद्धशुद्धोभयात्मकम् ॥२०॥

ऐसे कर्म श्रीनारायण का इष्ट सम्पाद रूप जो 'एच्छ्' दीपारोपण मालाकरणादिरूप नियत रूपवाले हैं जो सन्ध्योपासनादि 'नित्य' हैं, जो एकादशी आदि उपवासानुष्ठान के कारण 'नियत' हैं किसी सूर्यचन्द्रग्रहणादि के कारण 'नैमित्तिक' हैं जो किन्हीं अपेक्षित कामनाओं के कारण अनुष्ठित कारीरादि यजनात्मक 'काम्य' हैं। ये सभी शुद्ध तथा अशुद्ध अथवा उभयात्मकरूप वाले कर्मों में आते हैं। (जिनमें एकायन का शुद्ध कर्म में विहित अनुष्ठान इष्ट है)॥२०॥

स्वतः सङ्कल्पतश्चापि कर्मणां भिद्यते गतिः ।
फलानामिह सर्वेषां प्रदाता स्वयमच्युतः ॥२१॥

विषयगत तथा फलकामना आदि के अनुष्ठानों के कारण स्वतः संकल्प के भेद हो

जाने से कर्मों की गति में भी भिन्नता आ जाती है। इस प्रकार होने पर भी सभी कर्म तथा फलों का प्रदाता तो स्वयं श्रीनारायण ही रहते हैं (अतएव किसी भी अन्य देवता के आराधन करने पर भी उनके फलदाता भी अच्युत ही हो जाते हैं)॥२१॥

यथा कामफला यज्ञाः सृष्टा भगवता स्वयम् ।
त एव विदुषां तर्हि निर्वाणाय निराशिषाम् ॥२२॥

क्योंकि श्रीभगवन्नारायण ने हीं स्वयं जिस प्रकार स्वर्गादि कामनाओं के प्रदाता यज्ञादि की सृष्टि की थी वे ही तथारूपवाले कामनाओं के प्रदाता यज्ञादि जब बिना किसी कामना या कर्मफल के अनुष्ठित किये जाएं तो ज्ञानी जन के लिये मोक्ष प्रदाता भी हो जाते हैं॥२२॥

अबुध्द्वा परमात्मानं हरिमन्या हि देवताः ।
ये यजन्ति निरस्ताशास्तेषां ज्ञानाय तच्छनैः ॥२३॥

केवल श्रीहरि को न लक्ष्यकर (बिना ज्ञान से देखे) वैदिकादि अनुष्ठानों के अनुरोध पर अन्य अग्नि, इन्द्रादि देवगणों का यज्ञों में यजन करनेवाले किन्तु फल की इच्छा न रखनेवाले विद्वानों को यह यजन आगे चलकर शनैः शनैः (भगवन्नारायणविषयक) ज्ञान तथा भक्ति और उसी के बाद प्राप्य मोक्ष को भी प्रदान कर देते ज्ञान तथा भक्ति और उसी के बाद प्राप्य मोक्ष को प्रदान कर देता है)॥२३॥

बुध्द्वापि परमात्मानं पारमैकान्त्यवर्जिताः ।
इष्ट्वापि परमैर्यज्ञैः स्थानं यान्ति न शाश्वतम् ॥२४॥

अन्तर्यामीभूत श्रीनारायण की ज्ञान की स्थिति रखकर भी जो एकान्त भाव से रहित होकर उत्तम प्रकारों वाले वेदादि से अनुमत विविध यज्ञादि से यजन करने पर भी ऐसे विद्वान् परमपद की प्राप्ति (परमैकान्त्यभाव के न रहने से) नहीं प्राप्त करते हैं॥२४॥

व्यामिश्राँश्चापि शुद्धाँश्च तत्तत्कालविभागवित् ।
यथान्यायं प्रयुञ्जीत धर्मानैकान्त्यनिष्ठितः ॥२५॥

अतएव विद्वान् अवसरों के विभागों को देखकर जो ज्ञानपूर्वक यथाक्रम, यथाविभाग तथा यथाधिकार व्यामिश्र धर्म तथा शुद्ध कर्मों का एकान्त्यभाव में स्थित रहकर अनुष्ठान करें (जिससे उसे परमपद प्राप्ति में बाधा न रहे॥२५॥

बुद्धवापि परमात्मानमशुद्धं कर्म कामिनाम् ।
शुद्धं सर्वमकामानामेतद्धि परमं मतम् ॥२६॥

अतएव परमात्मा श्रीनारायण को तात्विकभाव से अन्तर्यामी मानकर भी कामनाओं के अनुरूप काम्य यज्ञादि यजन कर्मोंका अनुष्ठान करना भी अशुद्ध कर्म है तथा बिना कामना के काम्य यज्ञादि का यजन ही शुद्ध कर्म होता है तथा यही सिद्धान्तभूत मत या तत्व भी है॥२६॥

नानाफलक्रियायोगदेवताव्याकुलात्मभिः ।
दुर्ज्ञानं दुरवाप्यञ्च दास्यं विष्णोः परं पदम् ॥२७॥

इसलिये अनेक फलों, अनेक क्रियाओं के योग तथा देवताओं के कारण तथा अनेक उपायों से युक्त होने से व्याकुल रहकर त्रैविद्य यजनादि काम्य कर्मों के विस्तीर्ण रहने से जिनका पूर्णतः ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है तथा जिनसे प्राप्य फलों की भी प्राप्ति बड़े आयास के बाद संभव होती है परन्तु इन सभी की अपेक्षा तो श्रीविष्णु की दास्यभक्ति द्वारा प्रपत्ति धारण करना या न्यासयोग का ग्रहण ही अधिक सरल है॥२७॥

यत्तु विश्वपतेर्विष्णोर्नित्यं दासत्वमात्मनः ।
तज्ज्ञानंन्तत्क्रिया वा तत्प्रसादादेव सिद्ध्यति ॥२८॥

और इस प्रकार विश्व के अधिपति श्रीविष्णु को अर्पित अपना नित्य दास्यभाव का ज्ञान रखना रूप जो किया है वही या उसी के प्रभाव से श्रीविष्णु के प्रपत्ति के प्रसाद से परमपद की प्राप्ति रूप सिद्धि भी मिल सकती है॥२८॥

प्रसादनानामीशस्य श्रेयसी शरणागतिः ।
तत्प्रधाना हि सिद्ध्यन्ति यथान्याः सकलाः क्रियाः ॥२९॥

परमेश्वर के प्रसादन के उपायों में उनकी शरणागतिरूप जो प्रपत्ति है वही श्रेयस्करी या सर्वोत्तम उपाय है, क्योंकि उसकी मुख्यता से अन्य उपायभूत सभी क्रियाएं अंगभाव में होकर सिद्ध हो जाती है (अतः शरणागति ही उत्तम क्रिया या उपाय है)॥२९॥

यश्चायमात्मनिक्षेपः क्रियते परमात्मनि ।
तेनैव हि भरन्यासस्तथा फलसमर्पणम् ॥३०॥

अतः जिस मन्त्र से परमेश्वर श्रीहरि में आत्मनिक्षेप किया जाए उसी मन्त्र से कार्यों का भर न्यास तथा उनके फल का समर्पण भी किया जाता है॥३०॥

यः शरण्यमशेषाणां प्राप्नोति शरणं हरिम् ।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यः स्वकुलञ्च समुद्धरेत् ॥३१॥

और जो श्रीहरि सभी विश्व का शरण्य (रक्षक) है ऐसे श्रीहरि की जो शरणागति

प्राप्त कर लेता है वह सभी पातकों से मुक्त होकर अपने कुल का भी उद्धार करता है॥३१॥

न तथा विविधैर्दानैर्न तपोभिर्न चाध्वरैः ।
यथैव गुरुतां यान्ति नरा नारायणाश्रयात् ॥३२॥

मनुष्यगण विविध दानादि के पुण्यकर्मों से तथा अपने कपटमय आचरण तथा त्रैविद्य वेदादि अनुष्ठानों वाले यज्ञों के यजन से इतना उत्कर्ष या महत्व प्राप्त नहीं कर पाते हैं जितना श्रीनारायण की शरणागति से प्राप्त कर लेते हैं॥३२॥

यथैव भगवान् विष्णुर्देवानां परमो गुरुः ।
तथैव हि मनुष्याणां वैष्णवः परमो गुरुः ॥३३॥

जैसे सभी देवगणों का परमगुरु तथा अत्यन्त वन्दनीय देव श्री श्रीनारायण होता है उसी प्रकार सभी मनुष्यों का वन्दनीय तथा सर्वश्रेष्ठ गुरु वैष्णव (भक्त) होता है॥३३॥

न परीक्ष्य वयो वन्द्या नारायणपरायणाः ।
अपि स्युर्हीनजन्मानो मान्या निघ्नेन चेतसा ॥३४॥

जो श्रीनारायण के शरणागत वैष्णवजन हैं उनकी आयु तथा अवस्थादि की परीक्षा करने के पश्चात् उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो अपने अधीन विद्यमान वैष्णव तेज से सम्पन्न हैं वे हीनवर्ण में जन्म लेकर भी मान्य तथा वन्दनीय स्थितिवाले हो जाते हैं॥३४॥

समर्पितात्मनः श्रीशे सत्वयुक्तेन चेतसा ।
नापायोऽभिभवेत् सन्तं सद्यः प्रशमयेदपि ॥३५॥

ऐसे वैष्णवजन जितने श्रीविष्णु अच्युत के प्रति अपने सात्विक गुणवाले चित्त से आत्मा का भार न्यस्त कर दिया हो तो न्यासयोग से समृद्ध इनको उत्तमाधिकारता के प्राप्त रहने से कोई अन्याय या दोष की प्रवृत्ति या प्राप्ति नहीं होती तथा दैववश यदि किसी अपाय की प्राप्ति हो भी जाए तो वह शीघ्र दूर हो जाती हैं॥३५॥

प्रपन्नमपि यं कश्चित् प्रसक्तं पापकर्मणि ।
चिरात् संयोज्य विनयैः परिगृह्णति माधवः ॥३६॥

और ऐसे वैष्णवजन अपने किसी दुर्भाग्य के कारण पापकर्मों में लीन भी हो जाए तो उनको अपने निषिद्ध कर्मों के फलस्वरूप शरीर दण्ड देकर (या उन्हें लंगड़ा, कूबड़ा शरीरवाला व्याधियुक्त बनाकर) प्रकाशित करवाते हुए श्रीनारायण ही उसे उचित बुद्धि प्रदान कर अपने किंकिरभाव में स्थित रखते हैं॥३६॥

पूर्वेषामुत्तरेषाञ्च न्यासो नाशाय पाप्मनाम् ।
सर्वेषामपचाराणामयं हि क्ष्मापणं परम् ॥३७॥

न्यासयोग ग्रहण करने के पूर्व अनादिकाल से अर्जित पातकों का तथा न्यासग्रहण के पश्चात् किये गये प्रमादजन्य पातकों को तथा सभी प्रकार के उपचारों को हटाने के लिये यह न्यासयोग ही एक मात्र निवारक उपाय माना गया है॥३७॥

नारी वा पुरुषो वापि प्रपद्य शरणं हरिम् ।
तत्र चैकान्त्यवृत्यैव गच्छेतां भुवि भाव्यताम् ॥३८॥
सकृदेव कृतो न्यासो वृत्तिर्भवति शाश्वती ।
तथापि तन्मूलतया तस्यास्तादात्म्यमीरितम् ॥३९॥

कोई स्त्री अथवा पुरुष श्रीहरि की शरणागति लेते हुए तथा एकान्तिक वृत्ति रखकर अनन्यभाव से पृथ्वी पर अपना जीवन चलाते रहे। अतएव एक बार भी किया गया यह 'न्यास' जीवन पर्यन्त शाश्वत वृत्ति से चलाया जाएगा क्योंकि न्यास मूलकता होने से वृत्ति का न्यासरूप में तादात्म्य हो जाता है॥३८-३९॥

ईशे न्यस्तभराणां हि कर्तव्यं नास्ति किञ्चन ।
यद्यस्ति शुद्धमैच्छन्तत् सामान्यमिति यौक्तिकाः ॥४०॥

परमेश्वर के प्रति अपने को न्यासरूप में समर्पित करने के बाद कृतकृत्य हो जाने के कारण आगे कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। यदि कोई है भी तो वह शुद्ध होकर भी कर्ता की इच्छा पर निर्भर है। वह नित्यभूत सन्ध्यादि कर्म होने से सामान्यरूपवाला है जिसके न करने से प्रत्यवाय होता है, ऐसा युक्तिवादी जन का मत है॥४०॥

दृप्ताः प्रपद्य लक्ष्मीशं चपला मुक्तमानिनः ।
प्राप्यान्तमपि देहस्य च्यवन्त्युज्झितवृत्तयः ॥४१॥

श्रीनारायण को प्राप्त करने के अहंकार से अभिभूत तथा इन्द्रियार्थों पर चंचलभाव से आसक्त रहनेवाले तथा अपने को मुक्त रूप में समझने वाले तथा ईश की एकान्तीवृत्ति का परित्याग करते हुए शरीर का अन्त प्राप्त करने पर भी वे अन्त में मुक्ति प्राप्ति से वंचित होते हैं॥४१॥

अथैतत् परमर्षीणां ज्ञेयं तत्वविदां मतम् ।
दास्यं हि शुद्धं मिश्रं वा व्यामिश्रं चोदितं पृथक् ॥४२॥

तथा परमऋषि नारदादि का यह मन्तव्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि भगवान् श्रीहरि का दास्य के शुद्ध या व्यामिश्र रूप एक दूसरे से सदा पृथक् हैं जिनमें एकायन व्यक्तियों को शुद्ध तथा त्रैविद्यजन को व्यामिश्र दास्य मोक्षप्राप्ति पर्यन्त यथासम्बन्ध बराबर आचरण में रखना चाहिए॥४२॥

सामान्या च विभक्ता च वृत्तिः सर्वस्य देहिनः ।
दुस्त्यजां नियतामेवमिमां प्रत्यवधार्यताम् ॥४३॥

सभी शरीरधारी मानव की वृत्ति एक तो साधारण तथा दूसरी विभक्त रूप में मानी गयी है। जिनमें प्रथम तो देहसाधारणी तथा दूसरी वर्णाश्रमादि प्रतिनियता रूपवाली नियत रहती है जो दुरूपजा या कष्ट से हटनेवाली होती है यह बात भी ध्यान देकर समझना चाहिए॥४३॥

यथा यथा निषेवेत सतो वृद्धान्निरन्तरम् ।
तथा तथाऽस्य वै वृत्तिर्निरपाया हि वर्द्धते ॥४४॥

अतिशय एकान्तीजन भी सत्सेवा के भाव से जैसे जैसे अपने से वृद्ध तथा अनुभवी गुरुजन का सेवन करते हैं वैसे वैसे उनकी वृत्ति उपायों से रहित होकर अभिमतरूप में वृद्धि प्राप्त करती है॥४४॥

वीर्यं स्वकर्मधीर्दृष्टिस्तेजोऽङ्कः शक्तिरर्चनम् ।
बलं वैराग्यमैश्वर्यं सत्सङ्गः षड्गुणा हि सा ॥४५॥

इस सत्सेवा से वृत्ति में षड्गुणों का अभिवर्द्धन होता है-जैसे स्वकर्म के विहित आचार से वीर्य, ज्ञान की प्राप्ति से दृष्टि रूप वृद्धि, अंक या चिन्ह के धारण करने से तेज, अर्चना भक्ति, उससे प्राप्त शक्ति से वैराग्य, नित्य पदार्थों से हटना, रूप बल, इस प्रकार सत्सेवा छः गुणों वाली हो जाती है॥४५॥

सेव्योऽयं कर्महस्ताङ्घ्रिर्ज्ञानदृष्टिर्भजाननः ।
सत्सेवनशिरा धर्मो वैराग्यौजाः सुलक्षणः ॥४६॥

वृत्ति के आश्रित लक्षणादि से अनुगत षड्गुणरूप इस धर्म के कर्म से विहित आचार हाथ तथा पैर रूप वाले हैं, ज्ञान ही इसकी दृष्टिभूत नेत्र है, भक्ति ही इसका मुख स्थानीय है, सत्सेवा ही इसका मस्तक या शिरस्स्थानीय रूप है तथा नित्य वर्णन रूप वैराग्य ही इसका 'ओज' (बल) होता है॥४६॥

वन्दतोऽपि गुणान् विष्णोः कुर्वन्तोऽपि च तत्क्रियाः ।
मन्दपुण्या न विन्दन्ति पारमैकान्त्यसम्पदम् ॥४७॥

श्रीहरि का गुणगान करनेवाले होकर तथा उनके अनुगत अनुष्ठानादि सत्क्रियाओं का आचरण करनेवाले होने पर भी जिनके पुण्य अल्प होते हैं वे परम एकान्तभाव की प्राप्ति करने में अक्षम रहते हैं(अर्थात् पुण्यशाली वैष्णवजन ही परमैकान्त्यभाव की स्थिति में रह पाते हैं)॥४७॥

सम्भूय च कुले श्लाघ्ये सर्वान् वेदानधीत्य च ।
विधाय च महत्कर्म विष्णोर्दास्यं हि दुर्लभम् ॥४८॥

अतिविशिष्ट तथा प्रशंसनीय कुल में जन्म प्राप्त करने पर तथा सभी वेदों का विधिवत् साङ्ग अध्ययन कर लेने पर तथा दुष्कर यज्ञादि धर्मानुष्ठानों के पूर्णतः विधिवत् सम्पन्न कर लेने पर भी श्रीविष्णु की दास्यभाव की प्राप्ति हो जाना दुर्लभ है।।४८।।

सतां निषेवणं वापि जननं वा सतां कुले ।
विविक्तमथवा ज्ञानं विष्णोर्दास्यावलम्बनम् ।।४९।।

परन्तु सज्जन एवं सन्तजन का सेवन अथवा एकान्ती परमवैष्णवजन के कुल में जन्म प्राप्त कर असंशय रूप केवल श्रीविष्णु की दृष्टि या ज्ञान की प्राप्ति हो जाना श्रीहरि के दास्यभाव की प्राप्ति के साधनभूत आधार होते हैं।।४९।।

अस्वतन्त्राः सदा नार्यः स्थिता गुर्वादिशासने ।
वर्जयेयुर्विरुद्धानि यत्किञ्चिद्धर्मसंश्रयाः ।।५०।।
तूष्णीं-प्रायाः क्रियाः स्त्रीणां मन्त्रश्रावणबोधने ।
वाचनञ्च परेऽन्येऽपि धारणञ्चार्चने पुनः ।।५१।।

जो स्त्रियां है उनके अलग से या स्वतंत्र रूप में धर्माचरण के न होने के कारण वे अपने मन्त्रदाता आचार्य तथा पति पिता आदि के अनुशासन में रहकर विरुद्ध वर्जनादि के साथ अपने लिये उचित तथा विहित धर्म के अनुष्ठान को करते हुए वृत्ति की पूर्णता सम्पादित कर सकते हैं। इनके तापादि संस्कार अमन्त्रक तथा होमादि क्रिया के बिना किये जाते हैं,केवल इन्हें प्रदत्त मन्त्र को सुनाने तथा होमादि क्रिया के बिना किये जाते हैं। अन्य ऋषियों का मत है कि स्त्रियों को धर्मग्रन्थों का वाचन मन्त्र का धारण तथा इष्टदेव का अर्चन भी करना चाहिए जिसकी विधियां बतलाई जावें।।५०-५१।।

भर्तुरासनदानाद्यै स्नापनालङ्क्रियादिभिः ।
यथा चाभ्यवहाराद्यैः परिचर्या हरेस्तथा ।।५२।।

जिस प्रकार एक स्त्री अपने स्वामी की आसनदान, आदि तथा स्नान करवाने चन्दनादि चर्चा आदि से अलंकिया करती हुई सुश्रुषा करती है तथा भोजनादि के द्वारा उनकी सेवा करती है उसी प्रकार वह विश्वेश श्रीहरि की भी इसी प्रकार परिचर्या करे।।५२।।

यद्वा परमसंस्काराः प्राप्या गुणसमानतः ।
सर्वत्र हरिरेवार्च्यो नाग्निकर्मेति केचन ।।५३।।

अथवा तापादि पूर्वोक्त परमसंस्कारों को गुण की समानता के गुरु लाघव का विचार करते हुए सम्पन्न करवाने चाहिए। इनमें सभी में सम्पन्न होने के अवसर पर श्रीहरि

की (चर्या तथा) अर्चना ही प्रथम मुख्य कर्म है तथा तापादि संस्कार और होमादि कर्म की विधिकर्म के अनुगत बाद में स्थिति रहती है ऐसा अन्य विद्वानों का यहां मत है॥५३॥

परमैकान्तिनां नित्या या वृत्तिर्विहिता गुरौ ।
तदभावे तु तत्पुत्रे गुर्वर्चा दैवतेषु सा ॥५४॥

परमैकान्ती वैष्णव की अपने गुरु के विषय में रखी जानेवाली जो विहित वृत्ति है उनके अभाव में उसके पुत्र के द्वारा गुरु तथा देवादि अर्चा सम्पन्न करवाने में रहती ही है॥५४॥

सर्वेषां याग एवायं सामान्यो मुनिभिः स्मृतः ।
अभ्येत्य प्रणिपत्याग्रे देवायात्मनिवेदनम् ॥५५॥

पुरातन मुनिजन ने प्रायः यह सभी के लिये सामान्यरूप में यज्ञ की तरह विधिरूप में दिखलाया है कि देवता के समक्ष उपस्थित होकर उसें प्रणाम कर आत्मनिवेदन करे। यह कार्य यजन या यज्ञ के आचरण के तुल्य है॥५५॥

सर्वेषामुपचाराणामर्घ्यं परममुच्यते ।
कृतेनैकेन तेनैव सर्वमेव कृतं भवेत् ॥५६॥

और सभी पाद्यादि उपचारों में अर्घ्य अर्पण करना श्रेष्ठ माना गया है अतः इस एक के ही प्रस्तुत या अर्पित कर देने से सभी उपचार अर्पित माने गये हैं॥५६॥

अर्च्योऽर्चायां हरिर्नित्यं तदभावे तु कुत्रचित् ।
पुष्पेणार्घ्येण हविषा नत्या स्तुत्यापि वा परम् ॥५७॥

श्रीहरि के शालिग्रामादि बिम्ब में अर्चना नित्य होना चाहिए जिसमें अर्घ्य प्रस्तुत हो तथा इसके अभाव में उनकी व्यापकता की दृष्टि से सूर्याग्नि में भी अर्चना हो सकती है जिसे पुष्प, अर्घ्य, हवि, प्रदान, प्रणति तथा परम स्तुति आदि के द्वारा सम्पन्न किया जाता है॥५७॥

शालग्रामशिलायान्तु पूजनं स्नापनादपि ।
सा हि दिव्या हरेर्मूर्तिर्दर्शनादेव सिद्धिकृत् ॥५८॥

शालिग्राम शिला बिम्ब का पूजन उनका स्नान करवाने से ही माना जाता है क्योंकि वह श्रीहरि की दिव्य मूर्ति मानी गयी है जिसके दर्शनमात्र से सिद्धि को प्राप्ति होती है॥५८॥

प्राप्त्याभिगमनं दृष्ट्योपादानं नभसार्चनम् ।
स्वाध्यायः कीर्तनाद् योगः स्वार्पणादपि केवलम् ॥५९॥

श्रीहरि की मात्र सन्निधि प्राप्ति कर लेना ही उनके प्रति अभिगमन हो जाता है केवल ज्ञान मात्र की दृष्टि से सभी उपचारों का उपादान हो जाता है तथा उनके नमस्कार करने से अर्चना सम्पन्न हो जाती है, उनके नामकीर्तन के कार्य से स्वाध्याय तथा केवल अपने आत्मनिवेदन रूप समर्पण से योग की सम्पन्नता होती है। (अतएव इस विकल्प को भी यथासमय प्रस्तुत कर श्रीहरि की नित्य अर्चना की पूर्ति की जावे॥५९॥

एवं विद्वानेकदापि कुर्वन् सन् पाञ्चकालिकः ।
कृतं भवति वा सर्वमिज्ययैव हि केवलम् ॥६०॥

इस प्रकार के विधानभूत आचार से विद्वान् तत्व की दृष्टि से एक बार सम्पन्न कर एकान्तीजन अथवा पांच समय सभी वर्णों की सामान्यविधि से केवल एक भगवद् अर्चना रूप कर्म सभी अभिगमनादि कर्मों को करनेवाला हो जाता है। (क्योंकि अर्चना में ही सभी भगवत् अर्चना के अन्य कर्म भी प्रथमाङ्ग रहने से अनुप्रविष्ट माने जाते हैं॥६०॥

स्वाध्यायेनापि विदुषा सर्वं योगेन वा कृतम् ।
पूजनेन गुरोर्वापि सताञ्चापि निषेवणात् ॥६१॥

इसी प्रकार अन्य कर्म जैसे स्वाध्याय या योग कर्म, गुरु के अर्चन कर्म तथा सत्सेवनादि कर्म की भी इस श्रीहरि की सामान्य पांचकालिक इज्या (अर्चनारूप अनुष्ठान) से पूर्ति हो जाती है॥६१॥

विशुद्धं वैष्णवं बिम्बं गृहीत्वा न्यासतत्त्ववित् ।
सलिले देवमावाह्याभिषिञ्चेत् स्थापनं हि तत् ॥६२॥

अतएव न्यासयोग का तात्विक ज्ञान रखनेवाला एकान्ती भक्त, विशुद्ध श्रीविष्णु के शालिग्रामादि को लेकर जल में नारायण का आवाहन कर्म कर उससे उन्हें अभिषिक्त करना ही यहां उनकी स्थापना कर्म है॥६२॥

महाभागवतो मन्त्रैः शुद्धैर्यदभिषिञ्चति ।
बिम्बं सर्वापचाराणां प्रायश्चित्तमिदं परम् ॥६३॥

और जो महाभागवत पुरुष शुद्ध देवताभिसम्बद्ध काव्यों मन्त्रों से श्रीहरि के शालिग्रामादि बिम्ब पर अभिषेक करता है तो यह कार्य सभी अपचारों का परम प्रायश्चित् हो जाता है॥६३॥

न परैः सङ्करं कुर्यात् पात्राणां यज्ञकर्मणि ।
कांस्यानां भोजने पाके मृण्मयानां विशेषतः ॥६४॥

यज्ञादि कर्मों में भगवदाराधन में उनके निमित्त निर्मित किये जाने वाले भोजन तथा

पाकादि द्रव्यों के लिये निर्धारित कांस्य के तथा विशेष कर मिट्टी के पात्रों का दूसरे तथा अन्य कार्यों में निर्धारित पात्रों के साथ विशेषरूप में सांकर्य (मिलाना) इष्ट नहीं है॥६४॥

शुद्धव्यामिश्रपात्राणां न कुर्याच्च परस्परम् ।
व्यामिश्रे शुद्धशेषं स्यात्तच्छेषं न शुचौ क्वचित् ॥६५॥

शुद्ध किया या कर्मों में विनियुक्त शुद्ध पात्रों का तथा मिश्र क्रिया में विनियुक्त मिश्रपात्रों का भी परस्पर सांकर्य उचित नहीं क्योंकि पात्रों (जिन्हें मिश्र क्रियाओं में विनियोजित किया जाता है) से शुद्ध पात्र शेष हो सकते हैं किन्तु शुद्ध क्रिया में विनियोजित पात्रों को मिश्र कर्म में विनियोजित नहीं किया जा सकता है॥६५॥

सतां पादोदकं पात्रे काञ्चने मृण्मयेऽपि वा ।
पावनं धारयेन्नित्यं प्रच्युताद्यैरदूषितम् ॥६६॥

प्रच्युत आदि से अदूषित या अस्पृष्ट गुरुजन आदि पूज्यजन का पादोदक कांचन अथवा मिट्टी के पात्र में पवित्रभाव में रखकर उसे नित्य धारण आदि किया जाता है (धारण करना चाहिए)॥६६॥

सन्तोनुपरतारब्धविलयात्यन्तनिर्मलः ।
अशुद्धैरतथाभावान्नाश्लिष्येयुः कथञ्चन ॥६७॥

सञ्चित प्रारब्ध के विलय हो जाने से जो अतिशय निर्मल हो चुके हों ऐसे सन्तजन वैसी स्थिति प्राप्त न किये हुए तथा इसी कारण परमशुद्धता से रहित अशुद्धजन से आश्लेष न करें (न ही हीन स्थिति के ऐसे व्यक्ति से संपर्क या सांकर्य होने दे)॥६८॥

कृत्वा मन्त्रान्वयं तत्र विवाहं परिवर्जयेत् ।
वैवाहिकोऽन्वयः पूर्वो न तु मन्त्रं निवारयेत् ॥६८॥

आचार्य या पूज्यगुरु से मन्त्र का सम्बन्ध दीक्षा से प्राप्त करने पर फिर उस वंश के साथ विवाहादि सम्बन्ध (अथवा उस वंश की कन्या का विवाहार्थ ग्रहण) नहीं करना चाहिए (मन्त्र सम्बन्ध लेकर उस परिवार से विवाह अनुचित है किन्तु) यदि पूर्व में विवाह हो गया हो तो बाद में मन्त्र लेने का सम्बन्ध करना निषिद्ध नहीं है॥६८॥

न्यासस्य सर्वयोगस्य शुद्धस्यात्यन्तिकस्य च ।
अन्यादृशस्य च विधेर्नानुबन्धं परे विदुः ॥६९॥

सभी के अधिकार वाले शुद्ध योग तथा मिश्र योग रूप न्यास के साथ इससे भिन्न

विवाहादि सम्बन्ध की विधि का कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसी दूसरी मुनिजन की मान्यता है (अतएव न्यास-योग का मन्त्र सम्बन्ध तथा विवाह जैसे वंश-सम्बन्ध का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं समझना उचित है, ऐसा कुछ दूसरे मुनिजन का मत है)॥६९॥

प्राप्तुं लक्ष्मीपतेर्दास्यं शाश्वतं परमात्मनः ।
तमेव शरणं प्राप्य गच्छेदात्मविदं गुरुम् ॥७०॥

परमात्मा श्रीलक्ष्मीपति नारायण के नियत या शाश्वत दास्यभाव को शरण को प्राप्त करने के लिये ही श्रेष्ठ तथा आत्मज्ञ आचार्य (गुरु) को प्राप्त किया जाता है जिससे प्रपत्तिभूत न्यासयोग की दीक्षा ली जा सके॥७०॥

संवत्सरमुपासीत तमेव सुसमाहितः ।
वर्षवातातपादीनां सोढा युक्तोऽस्य कर्मसु ॥७१॥

वह गुरु की सेवाशुश्रुषादि में निरत रहकर वर्षा, वात, आतप (आदि का सहन करने) जैसे तप को साधते हुए तथा गुरु की सदैव शुश्रुषादि की चिन्ता रखते हुए एक वर्ष पर्यंत उनके साथ निवास करे॥७१॥

गुरुरस्य परं स्थैर्यं शौचमास्तिक्यमार्जवम् ।
ज्ञात्वा चान्यगुणान् सम्यक् संस्कारैर्योजयेत् ततः ॥७२॥

इस प्रकार समय बीत जाने पर फिर गुरु इसके स्थिर भाव, बाह्य तथा आभ्यतर शुचिता (पवित्रता), वेदादि अर्थों तथा इष्टदेव के प्रति दृढ़ विश्वास, वाणी, मन तथा शरीर के एकरूपतावाली ऋजुता आदि अन्य गुणों को समझ कर बाद में उसको तापादि पञ्च संस्कारों से युक्त (संस्कारित) करे॥७२॥

अथ कश्चिदनुग्राह्यमबुद्धं स्वयमेव वा ।
परिगृह्य परं प्राज्ञः प्रापयेच्छरणं हरिम् ॥७३॥

(तथा यदि कोई) स्वयं करने की विधि तथा आचार से अनभिज्ञ तथा असमर्थ हो और उस पर करुणा बुद्धि से अनुग्रह करना उचित दिखता हो तो मनीषी आचार्य उस पर कृपा कर उसे स्वयं श्रीहरि की प्रपत्ति करवाकर श्रीहरि की शरणागत दीक्षा प्रदान करे॥७३॥

क्रमाच्च बुद्ध्यमानं तं बोधनीयानि बोधयेत् ।
कारयेत् करणीयानि प्रापयेत् परमां स्थितिम् ॥७४॥

आगे फिर समय बीतने पर क्रमशः अपने ईश के विषय में दृष्टि प्राप्त कर उसका ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसे आवश्यक कर्तव्यों का तथा रहस्यों का ज्ञान करवाना चाहिए फिर उससे कर्तव्यों का पालन करवाने और वृत्ति का उपदेश देकर

एकान्तीजन की स्थिति तक उसे विकसित कर पहुँचावे जिससे वह उत्कृष्ट एकान्ती हो जाए।।७४।।

अजिह्मा सात्विकी बुद्धिर्येषां शास्त्रावगाहिनी ।
तेषां नारायणे भक्तिर्भवत्यव्यभिचारिणी ।।७५।।

जिनकी बुद्धि शास्त्र का अर्थ ग्रहण करने में समर्थ सत्वगुणवाली तथा सरलवृत्ति की है उनकी अन्य देवताओं की आराधनाओं से टूट कर एकनिष्ट भाव से श्रीहरि में स्थित भक्तिवाली बुद्धि हो जाती है।।७५।।

येषां शास्त्रेषु गाढापि राजसी कुटिला मतिः ।
तेषां न जायते भक्तिर्हरौ जातापि च स्खलेत् ।।७६।।

और जिनकी प्रतिशास्त्र में अर्थावगाहिनी बुद्धि राजसी गुणोंवाली हो तथा जिसमें कुटिलवृत्ति के कारण अनेक देवताओं में अपेक्षावश निष्ठा निर्माण होती है तो उनकी श्रीनारायण में भक्ति उत्पन्न नहीं होती और कदाचित् उत्पन्न होती भी है तो वह स्थिर नहीं होने से बाद में स्खलित या दूर हो जाती है।।७६।।

तमसाभिप्लुता येषां शास्त्रेषुक्रमते न धीः ।
न ते स्वात्मानमीशं वा बुद्ध्यन्ते देहबुद्धयः ।।७७।।

तथा जिनकी बुद्धि शास्त्रादि के अनुशीलन से नहीं चलती, ऐसे जो व्यक्ति तमोगुण से युक्त होते हैं वे देहादिस्थूल पदार्थ तक ज्ञान के पहुँचने के कारण आत्मा के अधिपति परमात्मा को जानने में असमर्थ रहते हैं। (तथा वे श्रीहरि के ज्ञान तथा भक्ति की प्राप्ति से वंचित हो जाते हैं)।।७७।।

लोभाद्वा यदि वा मोहाच्छिष्यं शास्ति न यो गुरुः ।
नास्मात् संश्रुणुते यश्च प्रच्युतौ तावुभावपि ।।७८।।

जो आचार्य लोभ या मोह के वश में होकर अपने शिष्य को अनुशासन में नहीं रख पाते तथा जिसके उपदेशादि शास्त्रवृत्त को शिष्य नहीं सुनते न उस पर ध्यान देते हों तो ऐसे आचार्य तथा शिष्य दोनों का पतन हो जाता है (अतएव सात्विक गुणवाले शिष्य को ही गुरु उपदेश देकर उसे कल्याण प्राप्ति करवा सकता है तथा ऐसे ही शिष्य रखना उचित है)।।७८।।

अपरीक्ष्य चिरं क्षेत्रं यः परं ज्ञानमावहेत् ।
प्रमाद्यतः सुगोप्तव्ये परमार्थोऽस्य हीयते ।।७९।।

इसीलिये शिष्यरूप क्षेत्र की बिना चिरकाल तक परीक्षा के ही जो उसमें परमार्थसाधक परम ज्ञानरूप बीज का आधार उपदेश द्वारा सम्पन्न करता है तो अत्यंत गोपनीय मोक्षोपायभूत ज्ञान के प्रदानरूप प्रमाद करने से उस आचार्य की भी

अपने उद्देश्य या परमप्रयोजन में हानि होकर प्रमादवश पतन हो जाता है।।७९।।

न्यासे हि देहिनोऽपायैर्जायते प्रच्युतिः फलात् ।
वारयत्याप्रशमनात् सा हि सद्व्यवहार्यताम् ।।८०।।

किसी शिष्य के द्वारा आत्मा के प्रपत्तिरूप न्यास के सम्पन्न करने पर भी बाद में उपायों के प्राकृतजन संसर्गादि से बन जाने पर श्रीहरि के दास भाव की प्राप्तिरूप फल से प्रच्युति से उदिष्टार्थ से वंचित होना पड़ता है, अतएव प्रायश्चितादि से प्रशमन कर्म के आचरण तक वह प्रायश्चित रूप में शिष्टजन से बहिष्कृत होकर रहेगा तथा इस समय वह भगवत् कैङ्कर्य के अधिकार से हीन भी हो जाएगा ।।८०।।

यज्ज्ञानपूर्वं न्यसनं मन्त्रेण गुरुणा हरौ ।
स एव सर्वसंस्कारः प्राक्तस्मात् प्राकृताः नराः ।।८१।।

आचार्य के द्वारा मन्त्रार्थ के ज्ञान को देते हुए जो शरणागति मन्त्र से श्रीनारायण के प्रति प्रपत्ति या न्यासयोग के साथ शिष्य का समर्पण करवाया जाता है उस सभी पूर्ण संस्कार के किये गये विधान से पूर्व वह जन अवैष्णवभूत था, अतः वह तब तक प्राकृत जन था।।८१।।

प्राकृताद्यैः परिहृतो निवसेन्नासहायवान् ।
वसँश्चाभ्यन्तरान् प्राज्ञः संसर्गान् परिवर्जयेत् ।।८२।।

न्यासयोग प्राप्त शिष्य अकेली ही रहे वह प्राकृतादि की संगति से दूर रहे तथा अपनी कुशलबुद्धि के साथ इनसे व्यवहार रखते हुए किसी आंतरिक संसर्गवाला व्यवहार भी (जैसे साथ रहना एक साथ शयन तथा भोजन आदि व्यवहार) नहीं रखे।।८२।।

श्रद्धापूतमवैद्यस्याप्यन्नाद्यं तु कदाचन ।
इज्यासु विनियुञ्जीत न श्राद्धे सति किञ्चन ।।८३।।

अवैष्णवभूत श्रीहरि की प्रपत्ति न पाने वाले किसी प्राकृतजन का श्रद्धावश अर्पित अन्न (पक्व या अपक्व) या किसी श्राद्ध कर्म के या सामान्यरूप में यज्ञादि के प्रसंग में अनापत् या आपत् स्थिति में भी उपयोग न करे (इस अवैष्णव दत्त अन्नका भोजनादि में लेना या उपयोग भी फल प्राप्ति में बाधक समझना चाहिए)।।८३।।

गुणासहास्त्यजन्त्यार्या न सन्तश्चिरमंहसे ।
दोषासहास्त्यजन्त्येव सन्तश्च श्रेयसे परान् ।।८४।।

आर्यजन या सज्जन किसी के गुणवश ही उसका चिरकाल तक पातकादि के चलाने

पर उसका परित्याग करना उचित मानकर बाद में उसे छोड़ते हैं और दोषों को देखकर सज्जन रहने पर भी उसी के लिये प्रायश्चित्तादि आचरण के काल में उसका परित्याग करते हैं।।८४।।

धर्मछद्मभृतो धर्मान् घ्नन्ति वेदपराङ्मुखाः ।
वैदिकाभास्तथा वेदान् कृष्णैकान्त्यपराङ्मुखाः ।।८५।।

वेद प्रतिपादित धर्म से हटकर चैत्यवन्दनादि बौद्ध धर्म का ज्ञान तथा आचरण करने (या उस पर आस्था रखने) वाले केवल धर्म का छदम् धारण करते हुए (धार्मिक होना दिखलाते हुए) धर्मों का (ज्योतिष्टोमादि सत्रो का जो कि धर्म प्राप्ति के आधार हैं) हनन करते हैं तथा जो परमार्थतः वैदिक नहीं होकर भी अपनी वैदिक स्थिति दिखला कर वेदों का हनन करते हैं ये श्री नारायण के एकान्त्यभाव में बाधक रहने से उसके प्रतिपक्षी (ही) समझना चाहिए।।८५।।

य आत्मनां परो वेद्यस्तं विष्णुं वेदयन्ति यत् ।
तद्वेदानां हि वेदत्वं यस्तं वेद स वेदवित् ।।८६।।

जिनसे चेतनभूत जीवात्माओं से उत्कृष्ट ज्ञानवेद्य परमात्मरूप श्रीविष्णु का ब्रह्मरूप में ज्ञान प्राप्त हो यही वेदों की सत्ज्ञानवत्ता है तथा जो वेदों के अनुशीलन से इसी रहस्यभूत ज्ञान की प्राप्ति करे वही वेदवेत्ता है। तथा इससे भिन्न तत्वों के विज्ञाता वेद के वेत्ता नहीं वे वेदविद्यघातक हैं।।८६।।

दर्शयन्त इव श्रेयो विप्लुतैर्हेतुभिर्बलात् ।
च्यावयन्ति श्रुतिपथात् दूरं बाह्याः स्थिरानपि ।।८७।।

हेतुवादिक अवैष्णव व कुदृष्टि रखनेवाला विद्वान् (बौद्धादि दार्शनिक) स्खलनशील हेत्वाभास जैसे हेतुओं को अपने बुद्धिबल से श्रेयस्कारी दिखलाते हुए स्थित श्रद्धाभक्तिवाले बुधजन को भी स्थिर सिद्धान्तवाले वेदमार्ग से दूर हटाकर वे उन्हें अपथगामी बना देते हैं।।८७।।

वैदिका इव चाप्यन्ये दर्शयन्तोऽन्यथा श्रुतेः ।
अर्थमच्युतकैङ्कर्याच्च्यावयन्ति कुदृष्टयः ।।८८।।

कुछ विद्वान् वेद का अनुगमन करनेवाले होने से वेद के आशयों को अपनी तार्किक बुद्धि के बल से अन्यरूपों में दिखलाने वाले कुदृष्टि होकर अच्युत के कैङ्कर्यभाव से दृढ़भक्ति वैष्णवों को भी भटका देते हैं।।८८।।

तस्मात् कुदृष्टिभिर्बाह्यैरप्रकम्प्यो गतव्यथः ।
ऐकान्त्यममलं विष्णोरातिष्ठेत् परमं सुधीः ।।८९।।

अतएव बुद्धिमान् स्थिर भक्तिवाला एकान्ती बाह्यजन की ऐसी हेतु प्रदर्शन तार्किक

कुदृष्टियों से अपने धर्म से न हटे तथा बिना किसी कथा के श्रीहरि के परम एकान्त्यभाव में दृढ़ता से स्थिर रहे तथा अपने धर्मादि का पालन करता रहे॥८९॥

नास्तिकः संशयी मूढ इत्यदूरतरा नराः ।
विज्ञाय लक्षणैस्तास्तु सम्यग् व्यवसितस्त्यजेत् ॥९०॥

अपने साथ रहने वाले निकटस्थ नास्तिक, सन्देहशील तथा मूढ़मति के मनुष्यों को उनके लक्षणों से भली प्रकार समझते हुए ऐसे सभी कुदृष्टि जन को निश्चय कर उनका साहचर्य तथा संगादि छोड़ देवे॥९०॥

मत्प्रत्यक्षन्तदेवासि नास्त्यन्यदिति निश्चिताः ।
अर्थकामपराः पापा नास्तिका देहकिङ्कराः ॥९१॥

जो मुझे प्रत्यक्ष हो वही विद्यमान या सत्य है तथा अन्य पदार्थ या ईश्वरादि अप्रत्यक्ष तत्व कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चय दिखलाने वाले अर्थ तथा कामरूप पुरुषार्थ के सेवन में रत रहनेवाले अपने शरीर के धर्म के जो दास हैं वे 'नास्तिक' है (तथा कुदृष्टि हैं)॥९१॥

नानाविधेषु ज्ञानेषु नराः संशयिनोऽधमाः ।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति लिङ्गमात्रधराः क्वचित् ॥९२॥

इसी प्रकार अनेक प्रकार के शास्त्रज्ञानों के कारण परस्पर विपरीत कथ्यों को प्राप्त कर संशय में स्थित रहनेवाले होकर किसी निश्चय पर नहीं पहुँचने से 'संशयी' तथा अधमजन हैं। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति केवल अपने मत के अनुरूप वस्त्रादिवेषधारी मात्र होते हैं॥९२॥

देहात्मस्वर्गनरकपुण्यपापाविमर्शिनः ।
गतानुगतिका मूढा नश्यन्ति पशुबुद्धयः ॥९३॥

कुछ देहात्मवादी, स्वर्ग, नरक, पुण्य तथा पाप के विचार से शून्य होते हुए केवल अपने प्रविचारित मार्ग में स्थित रहनेवाले अज्ञानी हैं जो, इस वृत्ति के कारण पशु के समान विवेक रहित हैं। ऐसे सभी प्रायः मोक्षप्राप्ति के अपात्र होने से अन्त में नाश प्राप्त करते हैं॥९३॥

कुदृष्टयो बहुविधा वृथा वैदिकमानिनः ।
तथा मिथ्यादृशो बाह्याः सर्वैरेवावृतञ्जगत् ॥९४॥

नास्तिक एवं कुदृष्टिजन के अनेक प्रकार होते हैं। कुछ वृथा ही अपने को वेदज्ञान से सम्पन्न मानने वाले वैष्णवविरोधी हैं, इसी प्रकार कुछ हेतु आदि के प्रयोगों से मिथ्यादृष्टि का निर्माण करनेवाले बाह्य विद्वान् हैं (अवैदिकजनक)। इस प्रकार के

अनेक जन से संसार आच्छादित है। अतः ठीक से इस आवरण में से अपने दृष्टि प्रकाश के अनुसार परीक्षा कर ऐसे मनुष्यों की संगति से दूर रहें।।९४।।

वेदवेदाङ्गतत्वज्ञाः नारायणपरायणाः ।
धन्याः केचन तेभ्योऽपि तेषामादेशवृत्तिनः ।।९५।।

और जो वेद तथा वेदांगो के तात्विक आशयों के विज्ञाता हों, जो श्रीनारायण के प्रति वेदों की निष्ठा के जानने वाले हैं, वे ही धन्य हैं तथा उनसे जो उपदेश लेकर वृत्ति में स्थित हो वे भी धन्य हैं तथा दुर्लभ हैं।।९५।।

आदिष्टाः पुण्ड्रमन्त्रार्चा-नाम-ताप-पराङ्मुखाः ।
धूतावधूतनिर्द्धूत-विधूतोद्धूत- संज्ञकाः ।।९६।।

जो वैष्णवाभिमत पुण्ड्र, मन्त्र, अर्चा, नाम, ताप नामक पंचसंस्कारों से रहित हैं उन्हें क्रमशः धूत, अवधूत, निर्द्धूत, विधूत तथा उद्धूत के रूप में शास्त्रकारों ने बतलाया है।।९६।।

आदिष्टा एव चान्यार्चामन्त्रपुण्ड्राङ्कनामकाः ।
राक्षसासुरवेताल-व्याल-प्रेता नराधमाः ।।९७।।

इसी प्रकार जो अन्य अर्चनादि में लीन हैं उन्हें राक्षस, अन्य मन्त्रादि का जपादि करने वाले असुर, अन्य पुण्ड्रादि धारी बेताल, अन्य देवता के शस्त्रादि चिन्हों के धारण करनेवाले व्याल तथा अन्य नाम को धारण करनेवाले 'प्रेत' हैं, ऐसा भी आगमादि शास्त्रों में निद्दिष्ट किया गया है।।९७।।

तथा स्वकर्मशास्त्रेशगुरुं-सत्सङ्गवर्जिताः ।
ऊना हीना स्रस्ता नष्टा दग्धा ज्ञेयास्समाख्यया ।।९८।।
भिन्नोऽन्यनाथो भिन्नोऽन्यफलो भिन्नोऽथनिन्द्यकृत् ।
भग्नोऽन्यदेशिकादेशोऽनृतोऽन्यजनसंश्रयः ।।९९।।

इसी प्रकार जो अपने कर्म तथा विहिताचार से हीन हों वे 'ऊन' शास्त्र तथा दृष्टि से रहित वे 'हीन', जो इष्ट श्रीश से रहित हैं वे 'स्रस्त' जो गुरु प्राप्ति से वंचित हैं वे 'नष्ट', जो सत्संग से हीन है वे 'दग्ध' इन नामों से भी शास्त्रकारों ने दिखलाये हैं। इसी प्रकार जिसका आराध्य अन्य देवता हो वह 'भिन्न' जिसका फल मोक्ष से अन्य है वह 'अन्यफल, और जो निन्द्य कर्मकारी है वह 'निन्द्य' जो अनेक विद्वान् गुरुजन की आज्ञाएं माने वह 'भग्न' तथा जो दूसरे देवताओं का यजन करे वह 'अनज्ञ' नाम से शास्त्र में दिखलाया गया है।।९८-९९।।

निहीनान् प्राकृतेभ्योऽपि प्रच्युतान् परिवर्जयेत् ।
भक्तानाराधयन् विष्णोः प्राप्नोति परमं पदम् ॥१००॥

इति नारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायां परिशिष्टे तृतीयोऽध्यायः

प्राकृतजन से भी हीन ये सभी प्रच्युत कहलाते हैं अतः इनसे अपने को दूर रखते हुए तथा श्रीविष्णु की तथा इनके भक्तजन की आराधना करते हुए श्री विष्णु के परमपद मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए॥१००॥

नारद पंचरात्र भारद्वाज संहिता के परिशिष्ट की तत्वप्रकाशिका
व्याख्या का तृतीयाध्याय समाप्त

परिशिष्टे

चतुर्थोऽध्यायः ४

पुनरेवं मुनिश्रेष्ठं पप्रच्छुस्ते महर्षयः ।
कथं निक्षेपता वृत्तिर्विस्तारोऽस्याश्च कीदृशः ॥१॥

अथ चतुर्थाध्याय

सभी महर्षिगण ने यह सुनकर फिर एक प्रश्न भारद्वाजमुनि से किया कि हे मुने! आत्मनिक्षेप के बाद अनुष्ठेय वृत्ति या आचार कैसा रखा जाए तथा इसका विस्तृत तथा तात्विकरूप क्या होता है॥१॥

भरद्वाजो महातेजाः श्रुत्वा तेषामिदं वचः ।
प्रत्युवाच परं हृष्टो भगवद्दास्यतत्त्ववित् ॥२॥

तब महातेजस्वी भरद्वाज मुनि ने उन महर्षियों के इस प्रकार के वचनों को सुनकर प्रसन्नता से हर्षित भाव में भरकर भगवद्दास्यभाव के तात्विक ज्ञान के आधार पर इस प्रकार कहा॥२॥

विशुद्धज्ञानसलिलां भक्तिकल्लोलमालिनीम् ।
सत्सेवनस्वादुरसां दिव्यलक्षणवारिजाम् ॥३॥
वैराग्यतीरसुभगामाचारोपवनावृताम् ।
वृत्यापगां निषेवध्वं विष्णुसागरगामिनीम् ॥४॥

हे महर्षिजन! यह वृत्तिरूप नदी ही सेवन के योग्य तथा अनुष्ठेय है। क्योंकि इसमें शुद्ध ज्ञानरूप दृष्टि ही जल है, भक्ति रूपी लहरों की मालाओं से यह भरी हुई है, सत्सेवनरूप स्वादु इसका आस्वाद है, दिव्य लक्षणों वाले ताप, पुण्ड्रादि कमल खिले हुए हैं, वैराग्य के तीर से जो रम्य भाववाली है. विहित आचाररूपी उपवनों से जो वेष्टित है और जो विष्णु रूपी सागर की ओर जाने वाली है (इसका सेवन करना चाहिए)॥३-४॥

न्यासतीर्थाभिगमनं सुदृष्टिर्यजनं हृदि ।
स्वकर्माण्यासनविधिर्लक्ष्मावाहनसत्क्रिया ॥५॥
भक्तिस्तु विविधा भोगाः सत्सेवा हविरुत्तमम् ।
वैराग्ययोगनिर्विघ्ना यजध्वमनयेज्यया ॥६॥

यह भगवदाराधनारूप वृत्ति ही इज्या (यजन, त्याग) है अथा अनुष्ठेय भी हैं क्योंकि इसमें प्रपत्तिरूप न्यास ही आरम्भक (स्नान) हेतु तीर्थाभिगमन होता है (जिसमें स्नान से हृद्याग पर्यन्त अङ्ग है,) जहां सुदृष्टि ही हृदयजन है, अपके कर्मों में विहित आचार ही जहां आसनविधि है। जिसमें लक्ष्य, आवाहन, मन्त्र, स्नान, अलंकार, भोग्य, पर्यङ्क आदि सत्कार है। भक्ति जहां अनेक विद्य गन्ध, माल्यादि भोग हैं, जहां उत्तम हविरूप है, वैराग्य ही जहां योग रूप ध्यान है, जिससे विघ्न दूर हो जाते हैं (वैराग्य के उपाय से जो विघ्नरहित है) ऐसी इस वृत्तिरूप इज्या से यजन किया जावे॥५-६॥

भूमाविव परे पुंसि न्यस्त-बीजवदात्मनि ।
विज्ञान-मूल-सन्तानः क्रियाचारनिबन्धनः ॥७॥
भक्ति-प्रकाण्ड-विस्तारो वैराग्यरसपेशलः ।
नाना-लक्षण-पुष्पाढ्यः सत्सेवनमहाफलः ॥८॥
उच्चैस्तरोऽतिविपुलः सर्वसन्तापनाशनः ।
सम्पद्यते सदा सेव्यो हरि-कैङ्कर्य-पादपः ॥९॥

यही वृत्ति एक ऐसा वृक्ष है जिसकी आधाररूप भूमि परमपुरुष श्रीविष्णु है जिनमें न्यस्त आत्मा बीज के समान है, जिसकी विज्ञान रूप दृष्टि ही मूल (जड़) स्थानीय है जो परम्परारूप है, जिसकी विहित आचार रूप क्रियाएं उस जड़ की दृढ़ता तथा सुरक्षा के लिये बनाया गया पाला तथा उसके आसपास की वेदिका है, जिसकी शाखाओं का विस्तार भक्ति है, जो वैराग्य के रस (जलसेक) से जमा हुआ होकर मजबूत हो रहा है, अपने ताप, पुण्ड्र आदि लक्षणों वाले इसके सुन्दर पुष्प हैं, जो सन्तों की सेवा रूप पुष्ट फलों वाला है, जो आकाश तक ऊंचाई में फैला हुआ तथा बड़ा ही विशाल आकारवाला है तथा जो अपनी छाया से सभी आश्रित विश्राम लेने पथिकों का सभी त्रिविध सन्ताप दूर करनेवाला है तथा जो श्रीहरि का दास्य रूप वृक्ष है। अतः इस ऐसे वृक्ष का ही सेवन सर्वदा करना चाहिए॥७-९॥

आदौ गुरूणां विज्ञानमथ तन्त्रार्तचिन्तनम् ।
तत एवात्मनो ज्ञानं तद्धर्माणाश्च सर्वशः ॥१०॥
परस्य पुंसः श्रीशस्य परेशस्य परात्मनः ।
स्वरूप-रूप-विभव-गुण-व्यापार-चिन्तनम् ॥११॥
परिबर्ह-विभूषास्त्र-पत्नी-परिजनात्मनाम् ।
सर्वेषाञ्चैव दिव्यानां गुणानामनुचिन्तनम् ॥१२॥

इसमें सर्वप्रथम अपने तत्ववेत्ता आचार्य के समीप उपसर्पण से आचार्य रूप का ज्ञान

तथा आगे उनसे तन्त्र (शास्त्र) के उपदेश रूप अर्थ का चिंतन तथा इसी से स्वयं का आत्मज्ञान एवं उसके सभी धर्मादि का ज्ञान होना, जिससे परम पुरुष रूप श्रीश जो ब्रह्मारुद्रादि के नायकभूत हैं तथा परमात्मा हैं, उन सर्वान्तरात्मा का ज्ञान तथा उनके दिव्यस्वरूप का, उनके विग्रहादि रूप का, उनकी विभूतियों तथा गुणों का तथा उनके कार्यादि का ज्ञान होना, श्रीहरि के गुणों में उनके अवतारादि कार्यों में धारण किये जाने वाले भूषणादि, अस्त्र तथा उनकी पत्नी तथा उनके परिवारजन का ज्ञान तथा उनके दिव्य गुणों तथा कार्यों (जैसे हिरण्यकशिपु, रावण, शिशुपालादि के संहार करने के कार्यों) का चिन्तन करना॥१०-१२॥

विमानमण्डपोद्यानवापीकूपादिशालिनः ।
नानाश्चर्यमयानन्त-दिव्यप्रासादमालिनः ॥१३॥
साप्सरो भूरिसङ्घस्य सदिव्यमृगपक्षिणः ।
पुरस्य दिवि लोकानां लोकस्य परिचिन्तनम् ॥१४॥
तथा भगवतो व्यूहविभवार्चा-व्यवस्थितेः ।
अन्तःस्थितेश्च जगतां सृष्टयादेश्च विचिन्तनम् ॥१५॥

इसी क्रम में आगे ऐसे पुरी (नगरी) का जिसमें विमान, मण्डप, उद्यान, वापी तथा कूप विद्यमान है, जिसमें अनेक आश्चर्यकारी, अनन्त एवं दिव्य प्रासाद (मन्दिरों) की पंक्तियों से (जो) शोभित हैं, जहां अप्सराओं से पूर्ण अनेक समुदाय विद्यमान है, जहां दिव्य मृग तथा पक्षिगण हैं ऐसे दिव्य लोक (स्वर्ग) के निवासीजन तथा लोक का चिन्तन किया गया है। इसी प्रकार जहां भगवान् श्रीवासुदेव तथा इनके चतुर्व्यूह उनके रामादि अवतार मय विभव, अर्चा में श्रीवैकुण्ठनाथादि की व्यवस्था तथा जगत् में अन्तर्यामित्व तथा सृष्टि, प्रलयादि का विचार है॥१३-१५॥

प्रधानमहदादीनां तत्वानामवबोधनम् ।
अण्डानां कालतत्वानां लोकानां भूतसंहतेः ॥१६॥

जहाँ प्रकृति तथा महत् तत्व, इन्द्रिय तथा तन्मात्रादि तत्वों का स्वरूप, ब्रह्माण्डों लोकों तथा काल तत्वों, पञ्चमहाभूतों तथा उनसे उत्पन्न जन्तुगण का भी विचार करना है॥१६॥

परसम्बन्धविज्ञानं प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
कर्मयोगस्य विज्ञानं धर्माणाश्चाप्यशेषतः ॥१७॥
ज्ञानयोगस्य विज्ञानं भक्तियोगस्य चाखिलम् ।
तथैव न्यासयोगस्य साङ्गस्य परिचिन्तनम् ॥१८॥

प्रकृति तथा पुरुष के भगवत्शरीर स्वरूप तथा सम्बन्ध का विशेष चिन्तन, कर्मयोग

तथा विशेषरूप में धर्मों का चिन्तन, इसी प्रकार ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का समग्र विचिन्तन करना और बाद में सांग समग्र न्यासयोग विषयक विवरण तथा इस विषय पर चिन्तन करना॥१७॥१८॥

इहैव फलरूपाया वृत्तेः सम्यक् प्रदर्शनम् ।
देहान्निष्क्रमणस्यापि मार्गस्य च विचिन्तनम् ॥१९॥

इस लोक में फल प्राप्ति रूप वृत्ति के पूर्णरूप से विवरण के बाद इस शरीर के छोड़ने के पश्चात् निष्क्राम प्राप्त जीव के अर्चिरादि मार्गों से उत्तमकान्तिरूप यात्रा का चिन्तन॥१९॥

दिव्यलोकस्य सम्प्राप्त्या भर्तुरालोकनार्चया ।
निरस्तातिशया प्रीतिः सदा तस्याश्च भावना ॥२०॥

जीवकी यात्रा के क्रम में उसका दिव्य लोक की प्राप्ति तथा अपने स्वामी इष्ट देश परमेश्वर का जो परमपद के साधन भी हैं-दर्शन प्राप्ति से निरवधि प्रीति तथा उसकी स्थिति का चिन्तन॥२०॥

भगवच्चरणाम्भोजानुभवप्रीतिजन्मनः ।
कैङ्कर्यस्य परा काष्ठा या तस्याश्च विचिन्तनम् ॥२१॥

और आगे दिव्यलोक में अवस्थित श्रीमन्नारायण के चरण कमलों का दर्शन, सेवा का अनुभव तथा उससे होनेवाली प्रीति की उत्पत्ति से दासभावना की परमानन्दा दात्री स्थिति की पराकाष्ठा का विचार॥२१॥

अनादेर्मोहकलनात् संसारावृत्तिहेतवः ।
प्रभवन्त्यात्मनां कर्म-वासनारुचयो यथा ॥२२॥
यथा रागादयो दोषा नित्यं चात्मगुणच्छिदः ।
कारणान्यपचारेषु क्षिपन्ति च तथा मतिः ॥२३॥

इसी क्रम में अनादिभूत माया (अविद्या) के सम्बन्ध में संसार में बार बार आकर जन्म प्राप्त करने के कारणभूत कर्मों की वासना तथा रुचि जैसी उत्पन्न होती है तथा अहिंसा आदि अध्यात्मगुणों के अनुरोधक राग आदि पुण्य पापकर्मादि के द्वारा संसार के बीजभूत तत्व बनकर दोषरूप में आते हैं तथा वे ही कारण होकर जीव को ऐसी अपचारों (पातकादि दोषों) में गिरा देते हैं, कैसी बुद्धि के उत्पन्न हो जाने की चिन्तना॥२२-२३॥

विमर्शं इह दुःखानां यातनानां परत्र च ।
विषयाणाञ्च हेयत्वदर्शनं दृष्टिरुच्यते ॥२४॥

इस लोक में प्राप्त होनेवाली दुःखोंकी तथा परलोक में प्राप्त होनेवाली यातनाओं

का विचार तथा सुखदु:खादि सांसारिक विषयों की हेयता का प्रतिपादन करना आदि ये सभी 'दृष्टि' कहलाते हैं॥२४॥

सैषा सुदृष्टिर्वृत्याख्यतरोर्मूलमुदाहृता ।
अतोऽन्यथा कुदृष्टिर्हि तस्य सा मूलघातिनी ॥२५॥

यह दृष्टि ही इस वृत्तिभूत पूर्व कथित वृक्ष की मूल या जड़ मानी गयी है तथा इसके विपरीत दृष्टि कुदृष्टि कहलाती है जिससे मूल का ही विधात माना गया है॥२५॥

प्रथमासनसंस्कारो निषेको विधिपूर्वकः ।
संस्कारास्त्वाव्रतादेशात् तत्र भोगक्रमा हरेः ॥२६॥

वृत्तिरूप वृक्ष का मूलबन्ध तथा विहिताचार भगवदिज्या आदि के विचारक्रम में सर्वप्रथम वेदादि शास्त्राविधि से विहित गृहाश्रम में होनेवाला गर्भाधान संस्कार तथा इसी के आगे व्रतादेश तक के (पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, अन्नप्राशन, चौल तथा उपनयनादि व्रतबन्ध तक) संस्कारों का उपचारक्रम श्रीहरि के उपचार के क्रम में प्रथम संस्कार माना गया है॥२६॥

द्वितीयमासनं विष्णोरस्योपनयनक्रिया ।
स्नानान्तास्तत्र संस्कारा बोद्धव्या भोगसम्पदः ॥२७॥

इसके आगे श्रीहरि के उपचार क्रम के द्वितीय संस्कार के क्रम में इसका उपनयन क्रिया से लेकर वेदारम्भ तथा समावर्तन पर्यन्त संस्कार इसके भोग सम्पत्ति के क्रम में ज्ञानासन के रूप में आते हैं॥२७॥

वैवाहिको विधिर्धर्मो यस्तृतीयं तदासनम् ।
गृहस्थधर्मा ये तत्र ते प्रसाधनविग्रहाः ॥२८॥

तथा धर्मभाव से अनुष्ठित विवाह संस्कार तृतीय आसन रूप है जहां गृहस्थों के आचार योग्य धर्मों का पालन होना प्रसाधनभूत अलंकार सदृश उपाचार क्रम में श्रीहरि के आता है॥२८॥

योगक्षेमविधिर्नित्यस्तच्चतुर्थमिहासनम् ।
ततः परेऽखिला यज्ञा हविषां विनिवेदनम् ॥२९॥
वनस्थाश्रमसम्प्राप्तिर्हरेः पञ्चममासनम् ।
नियमा ये च तत्र स्युस्ते वै भोगास्तदाश्रयाः ॥३०॥

इस गृहस्थ की वृत्ति के लिये भोग्यासन के रूप में जो अर्थार्ज्जनरूप योगक्षेम विधिवत् नित्य अपेक्षित है तथा जिसमें अग्निष्टोमादि यज्ञों के द्वारा (श्रीहरि एवं देवगण को), हवि समर्पण करने के आचारभूत कर्मवाला श्रीहरि के उपचार का आसन चतुर्थ स्थानीय

है। इस आश्रम के आगे वानप्रस्थ के प्राप्त हो जाने पर वह श्रीहरि के उपचारभूत रूप में पंचम आसन (होता) है जहां वन में स्थित रहकर आश्रम के नियत तथा उनके अनुरूप पदार्थों का भोगरूप में सेवन करना विहित है।।२९-३०।।

यत् प्रव्रजन्ति तत् षष्ठमासनं परमात्मनः ।
योगाख्यमतुलं शुद्धं तद्धर्मास्तत्र सत्क्रियाः ।।३१।।

इसके बाद अधिकारानुरूप जो प्रवजनरूप (सन्यास नामक) आश्रम है वह परमेश्वर के उपचार क्रम में षष्ठ स्थानीय है जिसका नाम योगसंस्कार है जो परमशुद्ध तथा अतुलनीय है। सन्यास के धर्मों में किये जाने वाले कर्मभूत उपचार सत्द्धर्मानुष्ठानरूप है जहां सत्सेवा की जाए।।३१।।

सतामुत्क्रमणादेश्च कर्तव्या विधयः परे ।
उद्वासनोपचारा वै भवन्ति दिवि शार्ङ्गिणः ।।३२।।
अग्नौ तु परमे व्योम्नि ध्यायेतां नित्यमच्युतम् ।
वैश्यत्वे चार्णवगतं शूद्रत्वे तु भुवि स्थितम् ।।३३।।

ऐसे सन्त के प्राषों के उत्सर्ग के उपरान्त उसकी उत्तरकालिक विधियों को सम्पन्न करना चाहिए। जिसमें श्रीहरि को अर्पित उद्वासनादि उपचार होते हैं। इसमें अग्नि तथा परम आकाश में स्थित अच्युत का ध्यान करते हैं (क्रमशः) ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिये और वैश्य के लिये समुद्र में स्थित तथा शुद्र के लिये पृथ्वी पर स्थित अच्युत का ध्यान करते हैं।।३२-३३।।

इत्थं वर्णाश्रमादीनां नित्यनैमित्तिकादिकम् ।
विहितं कर्म सकलं विष्णोराराधनं परम् ।।३४।।

इस प्रकार वर्ण तथा आश्रम आदि के नित्य एवं वैमित्रिक सम्पूर्ण विहित कर्म श्री विष्णु की परमाराधना है।।३४।।

निबोधत महाप्राज्ञस्तदेतदखिलं पुनः ।
वृत्याख्यस्य तरोरेव सुदृढं मूलबन्धनम् ।।३५।।

हे मुनिगण! इस सभी को निश्चित रूप में आपको समझाना आवश्यक है जो कि वृत्तिनामक वृक्ष के सुदृढ़ मूलबन्ध के रूप में सदा अव स्थित है।।३५।।

त्यागेन कर्मणां स्वस्य निषिद्धकरणेन च ।
आज्ञातिक्रमणं यत् तन्मूलबन्धोपघातकम् ।।३६।।

तथा अपने विहित कर्मो के परित्याग से तथा कर्मों के आचरण करने से जो श्रीहरि की आज्ञा का अतिक्रमण होता है वह वृत्तिवृक्ष के मूल बन्ध का अपघात करनेवाला होता है।।३६।।

विहितैवमुपावृत्तिर्विशुद्धपरिवारके ।
विशुद्धे ब्रह्मणि परे प्रीत्या सा भक्तिरुच्यते ॥३७॥

अतएव विशुद्ध भावादि सम्पन्न परिवारवाले (देवतान्तर्यामिभाव सहित) अपने स्वरूप में अवस्थित परब्रह्म में जो वृत्ति आराधनात्मक रूप में विधिपूर्वक बतलायी गयी है वही अतिप्रीति से सम्पन्न की जाए तो भक्ति कहलाती है॥३७॥

श्रुतिस्मृतीतिहासाद्यैर्दिव्यार्षागमविस्तरैः ।
ब्रह्मसूत्रपदैर्मन्त्रैः सन्निबन्धैः सयुक्तिभिः ॥३८॥
नाथस्य रूपविभवस्वरूपगुणकर्मणाम् ।
कीर्तनं ख्यापनं चिन्ता भृशं व्यक्तिषु चादरः ॥३९॥
स्तुतिर्नतिः प्ररिक्रामः प्रीतिरात्मनिवेदनम् ।
उपहाराच्छेषरतिः समीपपरिवर्तनम् ॥४०॥
दिव्यार्चायतन-ग्राम-पुर-राष्ट्रादिसम्पदाम् ।
निष्पादनं तथारामतटाकादि-प्रकल्पनम् ॥४१॥
स्थापनार्चन-यात्रादिमङ्गलानां प्रवर्तनम् ।
आस्थानासनयोग्यानां पात्रोपकरणस्य च ॥४२॥
स्नानप्रसाधनहविः शय्यान्तः पुरसम्पदाम् ।
सङ्ग्राममृगयाणाञ्च क्रीडोपकरणस्य च ॥४३॥
दिव्यानां मानुषाणाञ्च सेवकानां पृथक् पृथक् ।
अन्येषाञ्चैव भोगानां चेतनाचेतनात्मनाम् ॥४४॥
निष्पादनं रक्षणञ्च सँस्क्रियोपनयादि च ।
भक्त्या च नियतौत्सुक्यं स्वयमाराधनक्रियाः ॥४५॥

श्रुति, स्मृति तथा इतिहास पुराण आदि के तथा श्रीहरि के उद्‌गारभूत वैष्णव तन्त्रादि के, ऋषियों के उपदेशों से प्रवर्तित संहिताओं के विस्तार से ब्रह्मसूत्र के मन्त्रभूत निबन्धनों से तथा विद्वानों के द्वारा निर्मित न्यायतत्व जैसे शास्त्रीय निबन्धों तथा उनकी तर्कपूर्ण युक्ति आदि से श्रीनारायण के रूप, विभव, स्वरूप, गुण तथा कर्मों का जिसमें उनके विग्रह, विभूति, स्वरूप, गुण तथा चेष्टाओं पर विमर्श है तथा उनके नाम का उच्चारण, दूसरे भक्त को उसका प्रतिपादित रूप प्रख्यापन करना, उसी की चिन्ता रखना तथा अर्चावतार रूप व्यक्तिमें आदर दिखलाना। उन्हीं के स्तोत्र तथा उन्हीं के प्रति प्रणामादि का साष्टांग अर्पण करना, उन्हीं की प्रदक्षिणा करना, स्तुत्यादि से संतुष्ट होकर उनमें प्रीति रखना, उन्हीं के प्रति अपना आत्मनिवेदन प्रस्तुत करना तथा उन्हें ही नवैद्यादि उपहार प्रदान कर उसी के

अर्पित भक्त अन्न को लेने में रति तथा अर्चावतार के आसपास ही चलते फिरते तथा विद्यमान रहना, दिव्यार्चायतन का निष्पादन अर्थात् निर्माण करवाना (जहां श्रीहरि की अर्चा का धाम न हो), ऐसे ग्राम का, पुर (नगर) तथा राष्ट्र का निष्पादन करना जहां श्रीहरि की अर्चाधाम रहे, तथा इसी प्रकार उपवन, तटाक आदि का श्रीहरि के अर्चाधाम या नाम पर निष्पादन करवाना, श्रीहरि के विग्रह का स्थापन, नित्य आराधन, पक्ष, उत्सव, मासोत्सव आदि के समय श्रीहरि की उत्सवयात्रा या ग्रामप्रदक्षिणादि का निष्पादन करवाना, श्रीहरि के आस्थान या मन्दिर में आसन आदि योग्य वस्तुओं तथा अन्य पात्रादि उपकरणों का दानरूप में निष्पादन करना तथा प्रेरित कर दूसरों से भी ऐसा ही दानादि करवाना तथा उस आस्थान में उपयोगार्थ स्नान, प्रसाधन के उपयोगी पदार्थ या अलंकार, हवि, पदार्थ, शय्यादि वस्तु, अन्तःपुर के उपयोगी समृद्ध उपकरण, संग्राम तथा मृगया के उपयुक्त पदार्थ तथा श्रीहरि के उपयुक्त (श्रीहरि के हेतु) उपकरण भूत पदार्थों का आस्थान में प्रेषण करवाना, इसी प्रकार दिव्य इष्ट के, मानवों के तथा सेवकों आदि के उपयुक्त भोग्य पदार्थों तथा भोज्यपदार्थों का(जो चेतन एवं अचेतन रूप हैं)तदर्थ भिजवाना, इन पदार्थों का उत्पादन करवाना, इनका संरक्षण करना, इनकी संस्काररूप निगरानी करते हुए इन्हें शुद्ध रखवाना, निश्चित उत्सुकता के साथ भक्तिपूर्वक यह सभी स्वयं करने का कार्य भी आराधना किया (भक्ति का कार्य) है॥३८-४५॥

इत्येतत् सकलं काण्डस्कन्धशाखादलाङ्कुरम् ।
देवतान्तरभक्तिस्तु निरासस्तस्य ह्यशनिः ॥४६॥

इस प्रकार यह भी उस तरु की शाखा, टहनियां, ऊपर पहुंचनेवाली शाखाएं उसके पत्ते तथा अंकुर रूप विस्तार है परन्तु अन्य या अनेक देवताओं की भक्ति इस वृक्ष पर गिरनेवाली बिजली समझाना चाहिए (जो इस वृक्ष को क्षति पहुंचाती है)॥४६॥

अथ पुष्पं फलञ्चास्य लक्ष्म सत्सेवनन्तथा ।
युक्तोऽप्यन्यैर्विना पुष्पैः फलैरवति कस्तरुः ॥४७॥

इस वृत्तिरूप वृक्ष का 'पुष्प' होता है पंचलक्ष्म (चिन्ह) तथा सत्सेवन इसका फल माना जाता है अतएव यदि वृक्ष पुष्प तथा फल से युक्त न हो तो उसकी रक्षा कौन करेगा (अतः पुष्प तथा फलों के लिये वृक्ष का रक्षण करना आवश्यक है)॥४७॥

प्रतप्तैर्भगवद्दिव्यायुधैर्गात्रेषु लाञ्छनम् ।
सततञ्च हरिक्षेत्रोद्गृ-मृत्स्नोर्द्धपुण्ड्रकः ॥४८॥
पद्मबीजमयी माला तुलसीदिव्यचूर्णकम् ।
पवित्रञ्चाथ कौपीनं व्यतिस्यूता च मेखला ॥४९॥

लक्षणों में शरीर के उपयुक्त स्थानों पर अग्रजन्मा जन को श्रीहरि के प्रतप्त दिव्यायुधों का लाच्छन अंकित करवाना चाहिए तथा सदैव श्रीहरि के पुण्यक्षेत्रों से लायी गयी मृत्तिका से ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाना चाहिए, कमल के बीजों की बनी हुई माला को तथा तुलसी हरिद्रा के चूर्ण को (मस्तक पर) धारण करना चाहिए, शुभ्र धौत एवं पवित्र कौपीन तथा कटिसूत्र का धारण करना चाहिए॥४८-४९॥

पञ्चायुधाब्जताक्ष्यादिलक्षणाभरणादिकम् ।
वेषश्चानुल्वणः शौक्ल्यं दन्तहृत्पुण्ड्रवाससाम् ॥५०॥
विष्णोस्तत्संश्रयाणांञ्च चेतनाचेतनात्मनाम् ।
आख्यया व्यपदेशश्च लक्षणानि सतां विदुः ॥५१॥

शरीर पर श्रीहरि के पंचायुध शंख, गरुत्मादि लक्षणों वाले अलंकार तथा उष्णीय आदि को धारण करना चाहिए तथा शुक्ल वर्णके सूक्ष्म वस्त्रादि का परिशुद्धरूप में धारण तथा दन्त, हृदयपुण्ड्र तथा वस्त्रों को शुभ्ररूप में रखना तथा श्रीविष्णु के नाम से उन्हीं के आश्रित चेतन तथा अचेतन रूपवाले व्यक्तियों नामों से व्यवहार रखना ये लक्षण संतों के होते हैं॥५०-५१॥

लक्ष्मणामपचारेण विरुद्धानाञ्च धारणात् ।
कैङ्कर्यामोदसम्पत्तिर्नश्येन्मोहश्च जायते ॥५२॥

इन लक्षणों के धारण न करने पर अपचार से तथा अन्य देवगण के चिन्हादि के धारण करने पर वृत्ति के कैंकर्यामोदन सम्पदा का विघात होता है तथा इससे मोह रूप भ्रम की भी सम्भावना (या स्थिति) निर्मित हो जाती है॥५२॥

पत्युर्ज्ञानमयी वृत्तिर्विष्णोः प्रियमिहोच्यते ।
ये सन्ति तत्र निरतास्ते सन्त इति कीर्तिताः ॥५३॥
सर्वात्मना हि या वृत्तिस्तेषु भक्तिमयी परा ।
सा भक्तेः परमा काष्ठा वृत्तेश्च परमात्मनि ॥५४॥
आचार्यवद्दैवतवन्मातृवत्पितृवत्स्ववत् ।
सुहृद्वत् स्वामिवत् सन्तो दृष्टव्या राजवत् तथा ॥५५॥

अब स्वामी श्रीनारायण की ज्ञानमयी तथा प्रिय वृत्ति को बतलाते हैं। जो श्रीविष्णु के आराधक इस इष्टज्ञान की दृष्टि रखते हुए अपने आराध्य में निरत रहें उन्हें

सत्‌जन या सन्त कहते हैं। तथा इनमें जो भक्तिमयी उत्कृष्ट वृत्ति सर्वात्मना अपने इष्ट परमात्मा में पराकाष्ठा तक पहुँच जाती हो वही भक्ति की पराकाष्ठा रूप सद्‌वृत्ति हैं। संत आचार्यों को समान, अपने आराध्य देव के समान, माता और पिता के समान, अपने विश्वस्त मित्र की तरह, अपने स्वामी के समान तथा अपने शासक नृप के समान देखते हुए उनके अनुरूप प्रीति रखना चाहिए॥५३-५५॥

श्रुत्वैव सहसोत्थानम्प्रत्युत्थानं सुदूरतः ।
दर्शनानुभवप्रीतिः प्रणिपातोऽभिवादनम् ॥५६॥

इनके आगमन को सुनते ही बिना किसी विलम्ब के अपने स्थान से उठ जाना चाहिए तथा दूर तक आगे चलकर इनकी अगवानी करना चाहिए, इनके दर्शन के साथ अपनी प्रीति का अनुभव तथा उन्हें आदरपूर्वक नमस्कार अथवा अभिवादन करना चाहिए॥५६॥

नीचैः संश्लेषण हस्तदानं मार्गप्रदर्शनम् ।
पश्चात्पार्श्वपुरोयानञ्जयालोकाभिभाषणम् ॥५७॥

झुककर विनयपूर्वक उनके हाथ को लेते हुए किसी बात को बतलाना चाहिए तथा बाद में उनकी बाजू से आगे चलकर उनकी जय का उद्‌घोषण आदि करना चाहिए॥५७॥

गृहोपनयनश्चान्तर्देशक्रमणमासनम् ।
पादावनेजनश्चार्घ्योपहारः स्वागतादि च ॥५८॥

उन्हें अपने निवास पर लाना चाहिए तथा घर के सभी कक्षादि स्थानों पर उन्हें ले जाना चाहिए तथा योग्य आसन पर उन्हें बिठाकर उनके पादप्रक्षालन, अर्घ्योपहार तथा स्वागतादि प्रस्तुत करना चाहिए॥५८॥

प्रसादनं क्षमापणञ्च प्रीतिसङ्कथनानि च ।
उपासनं प्रश्रयणमात्मात्मीय निवेदनम् ॥५९॥

उनके प्रसादन हेतु प्रसीद जैसे शब्दों का कथन विनयपूर्वक करना चाहिए तथा क्षमा प्रार्थना कर प्रीतिपूर्वक संभाषण करना चाहिए, उनके समीप ही स्वयं को बैठना, विनय तथा आत्मीयभाव का निवेदन करना चाहिए॥५९॥

आज्ञाभ्यर्थनमालोकनिदेशवचनादरः ।
साधनं सम्पदामिष्टादरोऽनिष्टनिवर्तनम् ॥६०॥

किसी कार्य के होने पर उनसे आज्ञा कीजिये कहना, उनके द्वारा देखने आने पर उनके आज्ञा वचनों पर आदर करते हुए उनके लिये शाकफलादि भोजनयोग्य सामग्री का पकाना आदि कार्य के साथ (इष्ट आदर तथा उसी से अपना अनिष्ट का

निवारण बतलाना चाहिए)॥६०॥

विरहानर्थपीडावमाननाद्यसहिष्णुता ।
दास्याभिमानोऽनुव्रज्या श्रवणं कीर्तनं स्मृतिः ॥६१॥
भक्तिज्ञानसमाचारवैराग्याद्यनुमोदनम् ।
सङ्गमेच्छोपगमनमन्वक्स्थानासनादिकम् ॥६२॥

उनके विरुद्ध की, उनकी अर्थहानि की, उनकी पीड़ा की, उनके किसी द्वेषी जन द्वारा किये गये तिरस्कार की असहिष्णुता का निवेदन करना चाहिए तथा उनके दास्य का अपना निश्चय तथा उसका अभिमान बतला कर उसके अनुगमन, उनके योगक्षेम तथा गुणों का श्रवण, स्वयं उनकी बातों का तथा नामादि का उल्लेख कर बात करना तथा उनकी पिछले गौरव का स्मरण करना, उनके द्वारा आचरित या बुद्ध भक्ति, ज्ञान का तथा वैराग्यमय आचारादि का अनुमोदन करना, उन्हीं के उद्देश्य से उनके समीप जाना तथा उनके पीछे स्थित होना, बैठना आदि करना चाहिए।॥६१-६२॥

समानसुखदुःखत्वं मिथश्चार्थ-विचिन्तनम् ।
क्रियाकाले तु वरणं सदस्याग्रे तु पूजनम् ॥६३॥
परिषत्सु च सान्निध्यं संविदाञ्च प्रवर्तनम् ।
तथाभ्यनुज्ञापूर्वञ्च सर्वार्थेषु प्रवृत्तयः ॥६४॥

उनके मुख तथा दुःखों में अपनी समान स्थिति निदर्शित करना, परस्पर किसी शास्त्रादि अर्थ पर विचार करना (या उसमें सहयोग करना) स्वयं के यज्ञादि अनुष्ठानों के सम्पादन में उनका योग्य स्थिति में वरण करना, श्रेष्ठ सदस्य के रूप में उनकी अनुरूप अर्चना, परिषद् या सभा में उनके समीप रहना, उनकी किसी शास्त्रादि प्रतिज्ञा के होने पर उनका विषयादि प्रवर्तन करना तथा सभी अपेक्षित कार्यों में उनकी आदेशमयी अनुज्ञा के अनुरूप कार्यों का सम्पादन करना॥६३-६४॥

प्रच्छादनञ्च दोषाणां गुणानां ख्यापनन्तथा ।
क्वचिच्चैवाप्यधर्मेण कृच्छ्रेणाप्यर्थसाधनम् ॥६५॥
एताश्चान्याश्च विविधा वृत्तयो रसनिर्भराः ।
विष्णुभक्तेषु वृत्याख्यतरोर्हि फलसम्पदः ॥६६॥

उनके स्खलन या दोषों का प्रच्छादन करना तथा गुणों का प्रख्यापन करना तथा आवश्यक होने पर किसी अवसर पर कष्ट के उपस्थित हो जाने पर किसी अधर्म की भी किञ्चिद् वृत्ति का आश्रय लेकर उद्दिष्ट अर्थ साधन कर लेना। ये सभी तथा इन्हीं के

समान कुछ दूसरी भी भक्ति से प्रेरित तथा संचालित वृत्तियां है जिनकी प्रवृत्ति रखी जाए। ये ही विष्णु भक्तों में वृत्तिनामक वृक्ष की रसपूर्ण फलवृत्ति या सम्पत्ति कहलाती है॥६५-६६॥

सतामाचार्यमुख्यानामपचाराः पृथक्विधाः ।
असतामिव संसर्गास्समूलफलनाशनाः ॥६७॥

सन्तभूत वैष्णव तथा आचार्यों के विषय में होनेवाले अपचारों को अलग रूपवाले समझना चाहिए जो असज्जन के संसर्गवत् मूलसहित फल के विघातक होते हैं॥६७॥

दास्यामृतरसास्वादतर्षादत्यन्तमीशितुः ।
वैरस्येन विरुद्धानां हानं वैराग्यमुच्यते ॥६८॥

परमेश्वर श्रीहरि के दास्यरूप अमृत के आस्वादन की तृष्णा के कारण अत्यन्त विरस लगने वाले संसार के त्याग करनेवाला तथा संसार को विघ्न माननेवाला भाव 'वैराग्य' कहलाता है॥६८॥

श्रुतिभिः पञ्चरात्रेण स्मृतिभिस्तत्वदर्शिभिः ।
दर्शितान्यर्थतत्वानि न हि मन्दधियो विदुः ॥६९॥
ब्रह्मरुद्रमुखा देवा विविधाश्च महर्षयः ।
मनुष्या नागयक्षाश्च सिद्धविद्याधरास्तथा ॥७०॥
तत्तत्कार्योपपत्यर्थं शासनाच्च जगत्पतेः ।
रजस्तमोऽभिभूत्या च जगुः शास्त्राण्यनेकशः ॥७१॥
विपरीतार्थतत्वानि क्षुद्रनानाफलानि च ।
अपवर्गकथावन्ति मोहनान्यद्भुतानि च ॥७२॥

तत्वदर्शीजन के द्वारा वेदादि, पञ्चरात्र, स्मृति, पुराण तथा इतिहासादि के द्वारा दृष्टितत्व या अपेक्षित अर्थों का तात्विक रूप दिखलाया गया है परन्तु उसे मन्दबुद्धि जन तात्विकरस में समझने में अक्षम हैं। अतएव जगत्पति श्रीविष्णु के निदेश के कारण ब्रह्मा तथा रुद्र आदि देवों ने तथा अनेक विभिन्न मतों वाले महर्षिगण ने, मनुष्य, नाग, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर आदि ने अपेक्षित अनेक कार्यों तथा प्रयोजनों को प्राप्त करने के लिये तथा रजोगुण एवं तमोगुण से अभिभूत क्रियाओं से युक्त अनेक उपाय भूत ऐसे तन्त्रादि शास्त्रों का कथन किया जिनमें वास्तविकता से परे विपरीत अर्थ तथा तत्वों का मिश्रण भरा हुआ है तथा जिनके लिये अनेक छोटे छोटे उद्देश्यों की पूर्ति देनेवाले फल हैं तथा जिनमें मोक्ष प्राप्ति तक की बाते कहीं हुई हैं, ऐसे अद्भुत एवं बुद्धि को मोहित करनेवाले विवरण या अर्थ उनमें कहे गये हैं॥६९-७२॥

अपरेषामपि पुनस्तत्तन्मार्गानुसारिणाम् ।
धर्मवादच्छलोपेता ये च स्युर्ग्रन्थविस्तराः ॥७३॥
हरेरालोकहीनानामद्यापि किल पश्यत ।
तेषु तेष्ववगाहेन भवन्ति ज्ञानविप्लवाः ॥७४॥

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य हैरण्यगर्भ, पशुपत आदि आगमों के जो पूर्वकथित शास्त्रों से भिन्न हैं तथा ये धर्मवाद के छलों से भरे हुए हैं। इनके समान ही अन्य जो ग्रन्थ तथा उनके तात्विक विस्तार मूलक ग्रन्थ है वे भी धर्मवाद का भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। ये सभी श्रीविष्णु के तात्विक ज्ञानमय प्रकाश से रहित हैं जिन पर श्रीहरि की दृष्टि नहीं तथा ऐसे अनेक प्रबन्ध ग्रन्थ तथा उनके विस्तार से तात्पर्य दिखलाने वाले प्रबन्धों के अनुशीलन करने से ज्ञान का विप्लव होता है यह तत्व ध्यान देने योग्य हैं॥७३-७४॥

वेदानां सोपनिषदां पौरुषेयत्वचिन्तनम् ।
पञ्चरात्रे च सकले तन्त्रान्तरसमत्वधीः ॥७५॥

ऐसे ग्रन्थों तथा प्रबन्धादि में उपनिषद् के सहित सभी वेदों को पौरुषेय प्रतिपादित करने की मति या तर्कादि दिये गये हैं। समग्र पञ्चरात्र जैसे आगम या तन्त्र को इसी आधार पर अन्य तन्त्रोंकी समान कोटि में रखकर उनके समान रूप से मानने की बुद्धि होती है॥७५॥

वृद्धानाञ्चैव मुक्तानां नित्यानाञ्च तथात्मनाम् ।
अच्युतादन्यशेषत्वशङ्का च समताभ्रमः ॥७६॥

जिन शिवादि देवों में अच्युत श्रीनारायण की समता बुद्धि आ जाती है तथा वृद्ध, मुक्त तथा नित्यभूत जीवों की अन्य शेष के समान स्थिति की आशंका को दिखलाकर जहाँ समता कही है॥७६॥

तस्य चान्येशितव्यत्वबुद्धिर्विष्वपृथक्त्वधीः ।
विभूति-गुण-रूपादि विशेषविरहभ्रमः ॥७७॥

और इस प्रकार उन श्रीनारायण का अन्य इष्टदेव के समान ही महत्व तथा ज्ञान को दिया जाता है तथा उनकी विभूति, गुण तथा रूपादि विशेष से रहित तत्व से विश्व से अपृथत्व की बुद्धि दिखलाकर भ्रम उत्पन्न किया जाता है॥७७॥

अन्यतो जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयचिन्तनम् ।
योगानाञ्चैव सर्वेषां नित्यादेः कर्मणस्तथा ॥७८॥
ज्ञान-भक्त्यङ्ग-सत्सेवा तत्वानां चाविचिन्तनम् ।
विरुद्धानाञ्च सर्वेषामपायत्वविमर्शनम् ॥७९॥

तथाऽनादेरविद्यायाः स्वरूपस्यानिरूपणम् ।
हरेरालोकनान्तायास्तस्याश्चान्यनिवर्त्य-धीः ॥८०॥
फलानां चान्यतः प्राप्तिश्चिन्ता निःश्रेयसस्य च ।
हरेः कैङ्कर्य सम्प्राप्तिर्व्यतिरिक्तामृतत्वधीः ॥८१॥
विशेषेणाप्यनर्थेषु देहादिष्वर्थतामतिः ।
इत्यादयो बहुविधा महापापाः कुदृष्टयः ॥८२॥

जगत् की उत्पत्ति आदि का श्रीनारायण के अतिरिक्त किसी अन्य से निरूपण करना तथा सभी कर्म, ज्ञान तथा भक्ति योगों का तथा नित्यादि पदार्थों तथा कर्मों एवं नैमित्तिक कर्मों का भी इसी प्रकार नारायण से भिन्न उपादान के रूपों में चिन्तन करना तथा दान या दृष्टि, शंख चक्रादि अंकों, सत्सेवा आदि के तत्वों की विचिन्तना से दूर हट जाना और सभी विरोधी उपायों, तत्वों (दृष्टि, अंक, सत्सेवा के विरुद्ध उपायों का जैसे महत् तत्व आदि का स्वरूपादि विचार करना। इसी प्रकार अमादि माया स्वरूप अविद्या का स्वरूपगत विचान न करना तथा उसी अविद्या की श्रीहरि के दर्शन या प्राप्ति के बाद निवृत्ति होने की स्थिति को न मानकर किसी अन्य उपाय से निवृत्ति का ज्ञान रखना। इसी प्रकार मोक्षरूप फल की श्रीहरि के अतिरिक्त किसी दूसरी विधि से प्राप्ति मानना और श्रीहरि के दासभाव की प्राप्ति से भिन्न अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्ति की स्थिति का चिन्तन करना या उसे मानना। ये सभी तथा इनके अतिरिक्त देहादि स्थूल पदार्थों में विशेषरूप में आत्मत्व की निष्ठा बुद्धि रखना आदि ये अनेक प्रकार के कुदृष्टि रूप महाघातक हैं जो भ्रमोत्पादक तथा श्रीहरि की भक्ति में बाधक हैं॥७८॥

हरेः प्रियतमं ज्ञानं सन्तो ज्ञानधना ह्यतः ।
तथैव चापचाराणां काष्ठा ज्ञानविपर्ययः ॥८३॥

अतएव श्रीहरि को एक तो सत् दृष्टि वाला ज्ञान तथा इस ज्ञान के रखने वाले सन्त ही प्रिय हैं। इसी प्रकार अपकारों की पराकाष्ठा (अधिक प्रमाण में आचरण होते रहना) इस ज्ञान की विरोधी स्थिति होती है (जो हेय है)॥८३॥

ज्ञानस्य कर्मणा गुप्तिर्हतं ज्ञानमकर्मणा ।
प्रवृत्या प्रतिषिद्धेषु ज्ञानं कर्म च नश्यति ॥८४॥

सत् ज्ञान का संरक्षण विहित कर्म के द्वारा होता है तथा कर्मो के आचरण न करने पर ज्ञान का भी हनन हो जाता है, क्योंकि यदि प्रवृत्ति इनमें अवरुद्ध हो जाए तो उनमें कर्म तथा सत्ज्ञान का भी विनाश हो जाता हैं॥८४॥

अचिन्ता च विनिन्दा च मतिपूर्वश्च वर्जनम् ।
विहितानाञ्च धर्माणां सर्वज्ञात्मावघातकम् ॥८५॥
स्वरूपस्य विनाशाय रुचिर्निन्द्येषु कर्मसु ।
विषयेषु च सर्वेषु लौल्यं विष-मधु-स्पृहा ॥८६॥
विष्णोर्विद्वेषयुक्तस्य वैमुख्यं प्रतिपत्तिषु ।
प्रवृत्तिश्चापचारेषु सम्यगात्मविनाशनम् ॥८७॥

इसलिए वास्तविक तत्वों का चिन्तन न करना, ऐसी धर्मादि प्रवृत्ति की निन्दा या तर्कादि के सहारे से ऐसे तत्वों का बुद्धिपूर्वक प्रतिरोध करना तथा विहित धर्म तथा कर्माचरणों का ऐसी सर्वत्र आत्स्था से विघात करना उसके स्वरूप के नाश करनेवाला है। इसी प्रकार जो निन्द्य (त्याज्य) कर्मों में रुचि रखना तथा सभी विषयादि में रुचि तथा लौल्य वृत्ति रखना विषपूर्ण मधु की स्पृहा के करने जैसी विघातक होती है। इसके अतिरिक्त जो श्रीनारायण के प्रति द्वेषभाव या अनास्था से युक्त है तथा इनके सम्यक् ज्ञान से जो विमुख है, जो दोषों या अपचारों में स्वार्थवश प्रवृत्ति रख रहा हो तो ये सभी कार्य आत्मविनाशक होते हैं।।८५-८७।।

अन्य-तान्त्रिकदेवानां संसर्गप्रतिपत्तिषु ।
प्रवृत्तिरच्युतैकान्त्यनियमाध्वरनाशिनी ॥८८॥

इसी प्रकार अन्य तन्त्रादि में निर्दिष्ट उपास्य देवों में निष्ठा, उनके उपासकों के साथ संसर्ग तथा उनकी आचार तथा कर्मादि विधि में ज्ञान तथा ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति रखना ये सभी कार्य श्रीनारायण के अनन्यभाव (एकात्य) के नियमरूप यज्ञ को विनाश करनेवाले कहे गये हैं।।८८।।

लक्षणानि हि पुष्पाणि मुकुन्दचरणार्चने ।
तदभावपरीभावौ प्रध्वंसनकरावुभौ ॥८९॥

शंखचक्रादि अंकनरूप लक्षणों का धारण करना श्रीहरि के चरणों में अर्पित अर्चना के पुष्प हैं तथा इनको न धारण करना या इनका तिरस्कार करना, ये दोनों कार्य श्रीनारायण के एकान्त्यभाव के विघातक हैं।।८९।।

अन्यपुण्ड्राङ्कनादीनां धारणं दृष्टिनाशनम् ।
परचिह्नव्रणं गात्रे भ्रंशाय नरकाय च ॥९०॥

अन्य आगमों में बतलाए हुए चिन्ह तथा पुण्ड्रादि का अंकन तथा धारण करना श्रीहरि की दृष्टि में विघातक है। अतएव दूसरे चिन्हों का शरीर पर रहना केवल व्रणमात्र है जो उसका पतन करता और नरक प्राप्ति करवाने वाला होता है।।९०।।

सतामसेवनान्नित्यमसताञ्च निषेवणात् ।
क्षीयन्ते चाथ नश्यन्ति ज्ञान-वैराग्य-भक्तयः ॥९१॥

सत्सेवा के भाव से प्रेरित न होकर सज्जनों (वैष्णव सन्तों) की सेवा न करने तथा अन्य सन्तभूत असंन्तों के संसर्ग तथा सेवन करने से ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति क्षीण होकर बाद में नष्ट हो जाते हैं॥९१॥

महापचारो देवस्य भक्तानाम्भुवि शार्ङ्गिणः ।
धर्मरक्षानियुक्तानां समयस्य व्यतिक्रमः ॥९२॥

श्रीहरि नारायण देव के भक्तों का पृथ्वी पर अपचार या उनकी उपेक्षारूप दोष का आचरण धर्म की रक्षा से नियुक्त जन की मर्यादा का उल्लंघन होता है॥९२॥

एते चान्ये च विविधा ह्यपचाराः सुदुःसहा ।
वैराग्यं वर्जनं तेषां लज्जामानमदादिभिः ॥९३॥

अतएव इन बतलाये गये तथा इसी प्रकार के दूसरे उपचार असह्य होते हैं (अतएव इनका आचरण छोड़ देना ही उचित है)। इनके प्रति वैराग्य रखना उचित है तथा इनकी वर्जना है जो लज्जा, मान तथा मद आदि के द्वारा होती है॥९३॥

वृत्तेर्हि जीवितं गुप्तिः सारो वैराग्यमुच्यते ।
वैराग्ययुक्ता हि नरा यजन्त्यप्रच्युतान्तराः ॥९४॥

वृत्ति का निरन्तर जीवन है उसका सरंक्षण करना और संरक्षण का सारभूत तत्व वैराग्य है क्योंकि वैराग्य से युक्त मनुष्य ही बिना किसी प्रयुत्ति या आपदाओंके बीच में आये निर्बाध रूप से श्रीहरि का यजन करने में समर्थ होते हैं॥९४॥

अनुज्झितक्रियायोगा ज्ञानवैराग्यशालिनी ।
इति भक्तिमयी वृत्तिः पुनरेव प्रपञ्चिता ॥९५॥

जिनमें कर्मयोग निरन्तर बना रहता है तथा ज्ञान और वैराग्य समृद्ध होकर प्रकाशित है ऐसी भक्तिमयी जो वृत्ति है पुनः यहां उसे हमने और भी स्पष्ट दिखला दिया है॥९५॥

इत्थं किलात्मनो न्यासाज्जातो वृत्त्याख्यपादपः ।
असौ फलमयः सेव्यस्तन्न चोत्पद्यते विना ॥९६॥

इस प्रकार आत्मभर के न्यासयोग से वृत्तिरूप वृक्ष जन्म प्राप्त करता है जिसे फल से सम्पन्न रूप में अवश्य सेवन करना चाहिए जिससे पुनः उत्पत्ति (जन्मादि) की प्राप्ति न हो॥९६॥

सुसूक्ष्मत्वाद्दुरापत्वान्महत्वाद् गौरवादपि ।
ममायं परमो धर्मः प्रोक्तः स्थित्यै पुनः पुनः ॥९७॥

अत्यन्त सूक्ष्म रहनेवाले, कष्ट से प्राप्त होनेवाले, महत्व सम्पन्न तथा गौरव पूर्ण होने के कारण मैंने इस परमतत्वभूत धर्म को बार बार इसीलिये दिखलाया कि इसकी स्थिति दृढ़ हो सके॥९७॥

वृत्तिं सन्तोऽनुभूयेमामनुरूपां हि चात्मनः ।
परत्र चानुमोदन्ते परमेण विपश्चिताः ॥९८॥

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे भारद्वाजसंहितायां परिशिष्टे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

सज्जन सन्तजन आत्मा के अनुरूप इस वृत्ति का अनुभव करने पर उस वैकुण्ठ लोक में परमज्ञान के साथ प्रसन्नभाव से आनन्द प्राप्त करते रहेंगे॥९८॥

इति श्रीनारदपञ्चरात्र की भारद्वाजसंहिता के परिशिष्टभूत चतुर्थ अध्याय की 'तत्वप्रकाशिका' नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त

शुभमस्तु

नारदपञ्चरात्र-भारद्वाजसंहितास्थ-पद्यानामनुक्रमणिका

पृष्ठे

पृष्ठे

पृष्ठे

कर्मकाण्ड सम्बन्धी हमारे कुछ प्रकाशन

अन्त्येष्टि श्राद्ध कर्म पद्धति (संस्कृत) पत्राकार व पुस्तकाकार

उपाकर्म पद्धति मूल "श्रावणी कर्म" के लिये परमोपयोगी

ग्रह शांति–हिन्दी टीका सहित (शुकल यजुर्वेदोक्त)–इसमें मातृस्थापन पूजन आभ्युदीपक श्राद्ध पद्धति और ग्रहशांति है। यह यज्ञोपवीत तथा विवाहादि शुभ कर्म में बहुत उपयोगी है

गौडीय श्राद्ध प्रकाश महानिबन्ध–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत, (मूलमात्र, पत्राकार) सभी श्राद्ध, पितृकर्म संबंधी सभी वैष्णवादि पूजनादिकों का अपूर्व संग्रह

नित्य कर्म प्रयोग माला–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत, नित्य नियम के ६२ विषयों सहित। संस्कृत में

प्रेत मञ्जरी–हिन्दी टीका सहित। वैतरणी दान प्रेतदाहविधि, दशाहादि श्राद्ध, एकादशाहश्राद्ध, वृषोत्सर्ग, शय्यादानादि सपिंडी श्राद्ध, षोडश, मासिक श्राद्ध प्रयोग, त्रयोदशाहपद दानादि है। पुस्तकाकार व पत्राकार दोनों में उपलब्ध

व्रतोद्यापन प्रकाश–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत। मूलमात्र पत्राकार व सजिल्द में उपलब्ध

सुगम विवाह पद्धति–(गंगाधारी)–हिन्दीटीकासहित

सर्वदेव प्रतिष्ठा प्रकाश–पं० चतुर्थीलालजीकृत। सम्पूर्ण देवताओं की सर्वोत्तम प्रतिष्ठा विधि और प्रतिष्ठोपयोगी अनेकों प्रकार के कुंड, मण्डल, यंत्र आदि के चित्र बनाने तथा रंग पूरने की विधि भी है।

संस्कार प्रकाश–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत। इसमें षोडश संस्कार, लुप्त संस्कार प्रायश्चित, व्रात्यप्रायश्चित्त प्रयोग, पुनरुपनमन प्रकार इत्यादि सभी विषय है। मूल मात्र संस्कृत में। सजिल्द

वासिष्ठी हवन पद्धति–हिन्दी टीका सहित

विष्णु पूजन विधि–हिन्दी टीका सहित

विवाह सोपांगविधि–'वालोवोधिनी' नामक हिन्दी टीका सहित

शांति प्रकाश–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत। इसमें गणपत्यादि पूजन, पुण्याह वाचन, कलश स्थापनादि और विनायकादि ३० शांति प्रयोग तथा वास्तु शांति तथा वास्तु शांति प्रयोगादि समन्त्रक हैं। मूल मात्र पत्राकार

सकाम शिवपूजन विधान हिन्दीटीकासहित–वैदिक, तांत्रिक मन्त्रों से शिव पूजन

स्वस्तिवाचन (पूण्याहवाचन) प्रायः समस्त शुभकर्मों में पढ़ा जाता है।

संध्योपासन–हिन्दीटीकासहित देवर्षि पितृतर्पण सहित

हरिद्रामातृका पूजा–विवाहादि मंगल करने योग्य

(चातुर्थीलाली) उपनयनपद्धति–सटिप्पणीका नवीन आवश्यक विषयों से अलंकृत 'यज्ञोपवीत संस्कार' कराने के लिये परमोयोगी

हमारे यहाँ से प्रकाशित कुछ रामानुज सम्प्रदाय-ग्रंथ

अर्चावतार स्थल वैभव दर्पण-दिव्य देश तीर्थ यात्रा हि.टी.स.

आल्वन्दार स्तोत्र-सान्वय हिन्दी टीका सहित............

रामपटल-हिन्दीटीका सहित..................

द्राविडाम्नाय दिव्यप्रबंध-(संस्कृत अनुवाद) अनुवादक श्रीकांची जगदाचार्यसिंहासनाधीश प्रतिवादिभयंकर श्रीमदण्णङ्गराचार्य।

सुदर्शनशतक-हिन्दी टीका और सुदर्शनकवच............

(बृहत्) स्तोत्ररत्नावली-प्रथम भाग...............

श्री गोदाभक्ति चालीसा-(नवीन प्रकाशन) ....

धर्म शास्त्र-ग्रंथ

आन्हिक कर्म सूत्रावली (मूलमात्र) शुक्ल यजुर्वेदी माध्यनन्दिन वाजसनेयि शाखा कलों के लिये परमोपयोगी........

कर्पविपाक-(नक्षत्र चरणगत) हिन्दी टीका सहित........

धर्मसिन्धु-पं मिहिरचन्द्रजी कृत हि.टी. सहित तथा पूर्वोक्त सर्वालंकारों से विभूषित।

निर्णय सिन्धु-पं.ज्वालाप्रसाद मिश्रकृत- हि.टी. सहित

ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड भा.टी (बृहज्ज्योतिषार्णवान्तर्गत षष्ठ मिश्रस्कन्धोक्त) हिन्दी टीका सहित.......

व्रतराज-(दैवज कुल भूषण, याज्ञिक शिरोमणि संगमेश्वरोपाह्व श्री विश्वनाथ शर्मा विरचित)

सौभाग्य लक्ष्मी-हि.टी. सहित। इसमें लक्ष्मीदेवी के प्रसन्न करने के आधनीत स्त्रभूतो, कवच व सदाचारों का वर्णन है।

हमारे यहां से प्रकाशित विविध विषयों के लगभग तीन हजार प्रकाशनों की विस्तृत जानकारी के लिये हमारा बृहत्सूचीपत्र मुफ्त मंगा देखिये।

पुस्तके मिलने के स्थान :-

खेमराज श्रीकृष्णदास
श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७वीं खेतवाडी, खम्बाटा लेन,
बम्बई–४०० ००४

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
अहिल्याबाई चौक, कल्याण
(जि० ठाणे–महाराष्ट्र)

खेमराज श्रीकृष्णदास, चौक–वाराणसी (उ० प्र०)

कर्मकाण्ड सम्बन्धी हमारे कुछ प्रकाशन

अन्त्येष्टि श्राद्ध कर्म पद्धति (संस्कृत) पत्राकार व पुस्तकाकार

उपाकर्म पद्धति मूल "श्रावणी कर्म" के लिये परमोपयोगी

ग्रह शांति–हिन्दी टीका सहित (शुकल यजुर्वेदोक्त)–इसमें मातृस्थापन पूजन आभ्युदीपक श्राद्ध पद्धति और ग्रहशांति है। यह यज्ञोपवीत तथा विवाहादि शुभ कर्म में बहुत उपयोगी है

गौडीय श्राद्ध प्रकाश महानिबन्ध–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत, (मूलमात्र, पत्राकार) सभी श्राद्ध, पितृकर्म संबंधी सभी वैष्णवादि पूजनादिकों का अपूर्व संग्रह

नित्य कर्म प्रयोग माला–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत, नित्य नियम के ६२ विषयों सहित। संस्कृत में

प्रेत मञ्जरी–हिन्दी टीका सहित। वैतरणी दान प्रेतदाहविधि, दशाहादि श्राद्ध, एकादशाहश्राद्ध, वृषोत्सर्ग, शय्यादानादि सपिंडी श्राद्ध, षोडश, मासिक श्राद्ध प्रयोग, त्रयोदशाहपद दानादि है। पुस्तकाकार व पत्राकार दोनों में उपलब्ध

व्रतोद्यापन प्रकाश–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत। मूलमात्र पत्राकार व सजिल्द में उपलब्ध

सुगम विवाह पद्धति–(गंगाधारी)–हिन्दीटीकासहित

सर्वदेव प्रतिष्ठा प्रकाश–पं० चतुर्थीलालजीकृत। सम्पूर्ण देवताओं की सर्वोत्तम प्रतिष्ठा विधि और प्रतिष्ठोपयोगी अनेकों प्रकार के कुंड, मण्डल, यंत्र आदि के चित्र बनाने तथा रंग पूरने की विधि भी है।

संस्कार प्रकाश–स्व० पं० चतुर्थीलालजीकृत। इसमें षोडश संस्कार, लुप्त संस्कार प्रायश्चित, व्रात्यप्रायश्चित्त प्रयोग, पुनरुपनमन प्रकार इत्यादि सभी विषय है। मूल मात्र संस्कृत में। सजिल्द

वासिष्ठी हवन पद्धति–हिन्दी टीका सहित

विष्णु पूजन विधि–हिन्दी टीका सहित

विवाह सोपांगविधि–'बालोबोधिनी' नामक हिन्दी टीका सहित

हमारे यहां से प्रकाशित विविध विषयों के लगभग तीन हजार प्रकाशनों की विस्तृत जानकारी के लिये हमारा बृहत्सूचीपत्र मुफ्त मंगा देखिये।

पुस्तकें मिलने के स्थान :–

खेमराज श्रीकृष्णदास
श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७वीं खेतवाडी, खम्बाटा लेन,
बम्बई–४०० ००४

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
अहिल्याबाई चौक, कल्याण
(जि० ठाणे–महाराष्ट्र)

खेमराज श्रीकृष्णदास, चौक–वाराणसी (उ० प्र०)